श्री भागवत दर्शन

भागवती कथा

खण्ड १००

[उपनिषद् अर्थ]

व्यासशास्त्रोपवनतः सुमनांसि विचिन्वता ।
प्रणीतं प्रभुदत्तेन श्रीभागवतदर्शनम् ॥

लेखक
श्री प्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी

प्रकाशक
संकीर्तन भवन, प्रतिष्ठानपुर
(झूसी) प्रयाग

प्रथम संस्करण १००० | अक्टूबर १९७२ कार्तिक सं०--२०२९ | मूल्य : २. ५०

मुद्रक--बंशीधर शर्मा, भागवत प्रेस, ८५२ मुट्ठीगंज प्रयाग ।

विषय-सूची

संस्मरण

[१६]

भिक्षाशी जनमध्य सङ्गरहितः स्वायत्तचेष्टाः सदा ।
दानादान विरक्त मार्गनिरतः कश्चित्तपस्वी स्थितः ॥
रथ्याकीर्ण विशीर्णजीर्णवसनः सम्प्राप्तकन्थाधरो ।
निर्मानो निरहंकृतिः शमसुखाभोगैकबद्धस्पृहः ॥*

(भ० ह० वै० श० ८२ श्लो०)

छप्पय

भिक्षा करिकें खायँ रहैं जनमध्य विरत परि ।
चेष्टा सब स्वाधीन दीनता नहिँ आवे उर ॥
दान ग्रहन तैं रहित विरत मारग में नित रत ।
फटे मलिन कटि वस्त्र फटी गुदरी गर शोभित ॥
निरमम निरहकार नित, निरमानी सुख दुःख सम ।
ब्रह्मानन्द निमग्न वर, जग तपसी विरले परम ॥

यह जीव अपने यथार्थ कल्याण के मार्ग को भूलकर संसारी

---

* जो भिक्षा माँगकर खाते हैं, जनसग से विरत रहने वाले, दान तथा ग्रहन जैसे व्यावहारिक कार्यों से विरत रहने वाले, गलियों मे पडे फटे पुराने कपडों की गुदरी तथा कटिवस्त्र को धारण करने वाले, मान रहित, ग्रहकार से शून्य, सुख-दुःख मे सम रहने वाले कोई तपस्वी संत कहीं-कहीं ही मिल सकते हैं।

भोगों के मग में भटक गया है। यह कुशल कर्मों में प्रमत्त
विकर्मों में निरत हो रहा है। हम जो इतना संग्रह करते हैं,
लिये ? इसलिये कि हमें सुख हो, हमें किसी वस्तु का अभ
रहे। किन्तु हम देखते हैं, जो जितना ही अधिक संग्रही
उतना ही अधिक दुखी है। संसार में सुख के साधन अन्न,
वाहन, पशु और स्त्री ये बताये गये हैं। जिनके पास अ
मन अन्न है, अगणित धन है, बहुत से वाहन हैं, सहस्रों
गाय भैंसे हैं, सहस्रों स्त्रियाँ हैं, वे भी अत्यन्त दुखी देखे
जाते हैं, इसके विपरीत जिनके पास कुछ भी संग्रह नहीं है, एक
लँगोटी भी नहीं है, दिशायें ही जिनका अम्बर-वस्त्र-है। वे
निश्चिन्त सुखी देखे जाते हैं। इसीलिये एक नदी तट पर पाषाण
शिला पर नग्न पड़े हुए परमहंस से महाराज यदु ने यह प्रश्न
पूछा था, कि हमारे पास इतनी भोग सामग्रियाँ हैं, फिर भी हम
इस संसार अटवी में उसी प्रकार दुखी हैं। जिस पर वन में आग
लग जाने पर वहाँ रहने वाले मृग आदि जीव जन्तु अग्नि की
लपटों से झुलस जाने के कारण दुखी होते हैं, किन्तु आप इस
संसार रूप जलते हुए वन में रहते हुए भी उसी प्रकार निश्चिन्त
हैं, जैसे वन में आग लग जाने पर भी गंगा में खड़ा हाथी
निश्चिन्त और सुखी बना रहता है। वास्तव में सुख विषय
सामग्रियों में नहीं है। सुख स्वरूप तो श्रीश्यामसुन्दर हैं। इन
शब्द रूप रसादि जन्य पदार्थों में तो सुख का आभास है, प्रति-
बिम्ब है। प्रतिबिम्ब में सुख कहाँ ! जल में पुष्पित फलवान वृक्षों
का प्रतिबिम्ब पड़ने से पानी में स्पष्ट फल-फूल दिखायी देते हैं,
किन्तु उन प्रतिबिम्बित फलों में न तो स्वाद है न उन प्रति-
बिम्बित पुष्पों में गन्ध। यदि आपको स्वाद लेना हो तो जल में
दीखने वाले प्रतिबिम्बित फलों का मोह त्यागकर तुम यथार्थ

आम के वृक्ष पर चढ़कर आम का रसास्वादन करो। जल मे प्रतिबिम्बित गुलाब के फूलों का मोह त्यागकर यथार्थ गुलाब के पेड से फूल तोडकर सूँघो, तब तुम्हें यथार्थ स्वाद-तथा-यथार्थ सुगन्ध प्राप्त होगी। यह यथार्थ फल फूल हैं, ये प्रतिबिम्बित फल फूल हैं, इसका ज्ञान महात्माओं को साधु-सत सत्पुरुषों को ही होता है, इसीलिये वास्तविक सुखी वे ही होते हैं और उनके अतिरिक्त जो संसारी लोग हैं, जो विषयों में ही सुख की खोज करते हैं, उनके पास चाहें जितनी भी अधिक से-अधिक भोग सामग्रियाँ क्यों न हों, यहाँ तक कि समस्त ससार भर के भोग्य-पदार्थ किसी एक ही व्यक्ति को क्यो न मिल जायँ, इतनी भोग सामग्रियों के रहते भी वह दुखी-का दुखी ही बना रहेगा। इसी-लिये महात्मा कबीरदास ने कहा है—

कबिरा दुखिया सब ससार।
सुखिया वहि जिह राम अधार॥

क्यों, यथार्थ सुख तो राम ने अपने ही पास रख छोडा है। उस सुख की छाया ससार के पदार्थों में पडती है, इसी से उन्हें विषयों में सुख का आभास प्रतीत होता है। अतः सुख प्राप्ति, पापों की निवृत्ति सत संग से ही होती है।

सतों के असख्यो भेद हैं। भक्तमाल में अनेकों प्रकार की निष्ठाओं वाले संतों का वर्णन है।

१—कुछ सत तो ऐसे होते हैं जो निर्गुण निराकार परब्रह्म का उपासना करते हैं, वे सबको निर्गुण ब्रह्म का उपदेश करते हैं। उनकी दृष्टि में ससार का अस्तित्व ही नहीं। अनेक रूपों मे वह ब्रह्म ही दिखायी दे रहा है। वे सबमे अन्तर्यामी रूप से ब्रह्म को ही देखते हैं। उन्हें सर्वत्र ब्रह्म का ही साक्षात्कार होता है

और वे अधिकारी जिज्ञासुओं को ब्रह्म साक्षात्कार कराते भी हैं।

२—कुछ सगुण-साकार उपासक होते हैं। वे भक्तिमार्ग के अनुयायी होते हैं। उनका श्यामसुन्दर भी अन्तर्यामी रूप से सबमें रम रहा है, फिर भी वे उसकी किसी विग्रह रूप में उपासना करते हैं।

३—कुछ लोग अपने को ही ईश्वर बताकर अपनी पूजा कराते हैं।

इन तीनों में तीन प्रकार के होते हैं। एक तो यथार्थ भक्त—उन्हें आचार्य भी कहते हैं। वे स्वयं सदाचार का पालन करते हुए अपने अनुयायियों से भी सदाचार का पालन कराते हैं। स्वयं भगवान् की भक्ति करते हुए सबको भक्ति का उपदेश करते हैं। ऐसे सदाचारी आचार्यों का परलोक में एक स्वतन्त्र लोक ही निर्मित हो जाता है, उनके अनुयायी उसी लोक को प्राप्त होते हैं। ब्रह्माजी के एक दिन के पश्चात् जो कल्प प्रलय होती है, उसमें वे अपनी भावना के अनुसार भगवत्स्वरूप में मिल जाते हैं।

दूसरे वे होते हैं, जिन्होंने चिरकाल तक भगवान् की उपासना तो की है, किन्तु उनकी भगवान् बनकर पुजाने की वासना बनी रहती है। भगवान् तो वांछाकल्पतरु हैं, जो उनकी शरण में आया है, उसकी अच्छी बुरी सभी वासनाओं की किसी न किसी रूप से पूर्ति करते हैं, तो ऐसे लोग अपने को भगवान् प्रकट करके अपने को ही पुजाते हैं। उनके जो अनुयायी हैं हृदय से उन्हीं को भगवान् मानकर पूजते हैं, वे अपनी विशुद्ध भावना के कारण भगवान् को प्राप्त होते हैं, जो स्वार्थ वश पूजते हैं, या ढोंग से पूजते हैं, उनकी भी भावना के अनुसार स्वार्थ सिद्धि होती है, किन्तु वासना के वशीभूत होकर जो अपने को भगवान् कह कर पुजाते हैं, उन्हें वासनाओं के अनुसार नरकादि लोकों की प्राप्ति

होती है और फिर भगवत् कृपा से उनकी वासना क्षय हो जाने पर वे भी सत्मार्ग के अनुयायी होते हैं।

किन्तु जो न तो भगवत्भक्त ही हैं न सदाचारी ही हैं। दम्भ से ढोंग बनाकर अपने को भगवान् मानकर पुजाते हैं, तो पूर्वकृत यत् किंचित् पुण्यों के प्रभाव से बहुत से स्वार्थी उनके अनुयायी बन जाते हैं, जब उनका दम्भ खुल जाता है–प्रकट हो जाता है, तो सच्चे साधक तो उनका परित्याग करके चले जाते हैं। जो स्वार्थी लालची होते हैं, वे अपनी स्वार्थ सिद्धि के निमित्त उनके पीछे लगे रहते हैं उनके दम्भ का अनुसरण करके समाज में कदाचार फैलाते हैं, ऐसे गुरु और चेला दोनों ही नरकगामी होते हैं—

लोभी गुरू लालची चेला। होइ नरक में ठेलमठेला। इसप्रकार साधु सन्तों की तथा अनुयायियों की तीन श्रेणियाँ होती हैं।

(१) एक तो यथार्थ गुरु साधु सन्त और उनके यथार्थ अनुयायी, (२) दूसरे अजितेन्द्रिय गुरु और उनके अजितेन्द्रिय अनुयायी, (३) तीसरे दम्भी गुरु और उनके लोभी लालची दम्भी चेला। पहिले गुरु शिष्य दोनों को भगवत् प्राप्ति होती है। दूसरों का इस ससार में सम्मान, यश ऐश्वर्य बढ़ता है, परलोक में भावनानुसार फल मिलता है।

तीसरों को कुछ दिन मान सम्मान यश ऐश्वर्य भले ही मिल जाय, किन्तु पीछे उनकी दुर्दशा ही होती है। किन्तु वे भी प्रारब्ध कर्मों के कारण–वासना के वशीभूत होकर ऐसा करने को विवश हो जाते हैं।

संसार में सच्चे सन्त ही धर्म को बचाये हुए हैं, वे ही साधकों के सहारे हैं। सच्चे सन्तों के भी दो भेद हैं। एक तो निर्लेप एकांत सेवी भावना प्रधान, वे संसार के सम्मुख नहीं आते हैं, गुफा,

कन्दराओं में छिपकर एकान्त में बैठे रहते हैं, उनकी भावना से ही जगत् का कल्याण होता रहता है, उनकी परमपावन स्वाँस की सुगन्धि से ही सद्‌गुणों का विकाश होता रहता है। वे भवन की नींव के पत्थरों की भाँति छिपे ही भवन के समस्त भार को धारण किये रहते हैं। उन्हें न कोई जानता है और मानने वाले भी कम होते हैं।

दूसरे संसार में रहते हुए भी—सर्वसाधारण लोगों के बीच में सर्व साधारण जैसा जीवन बिताते हुए भी उनका सब समय परोपकार और प्रभु पूजा में ही व्यतीत होता है। वे शुद्ध सदाचारी मर्यादा का पालन करते हुए कर्म प्रधान होते हैं। वे सदा सर्वदा परमार्थ सम्बन्धी ऐसे शुभ कार्यों में सदैव ही संलग्न रहते हैं, जिससे धर्म की सदाचार की अभिवृद्धि हो। लोग उनके सत कर्मों से प्रभावित होकर उनका अनुगमन करते हैं। उनकी यश कीर्ति भी प्रायः संसार में फैलती है। उसे भी वे बड़े धैर्य के साथ सहन करते हैं। ऐसे ही सन्त अपने समस्त स्वार्थों को तिलाञ्जलि देकर परमार्थ साधनों में सदैव तत्पर रहते हैं। वास्तव में संसार में ऐसे ही सन्त बड़भागी कहे जाते हैं।

रामघाट से श्री बाबा से विदा लेकर हम नरवर पाठशाला में पहुँचे। नरवर पाठशाला को हमारे परम श्रद्धेय श्री जीवनदत्तजी ब्रह्मचारीजी ने स्थापित किया था। उनकी इच्छा प्राचीन ढंग के ब्रह्मचर्य आश्रम बनाने की थी। कुछ दण्ड कमंडलु धारण करने वाले, नित्य सन्ध्या हवन करके भिक्षा पर निर्वाह करने वाले ब्रह्मचारी बनाये भी किन्तु समय के प्रभाव से वह निभ नहीं सका, अन्त में उसने संस्कृत महाविद्यालय का रूप धारण कर लिया। श्री ब्रह्मचारीजी ने इटावा के परम विद्वान् पं० भीमसेनजी शास्त्रीजी से अष्टाध्यायी पढ़ी थी। पं० भीमसेनजी स्वामी

दयानन्दजी सरस्वती के संसर्ग से पहिले आर्य समाजी थे, पीछे सनातन धर्मी हो गये और यहीं ब्रह्मचारीजी के समीप नरवर में आकर निवास करने लगे और यहीं उन्होंने अपनी इहलोक लीला भी समाप्त की। इनके पुत्र पं० ब्रह्मदत्तजी शास्त्री इटावे से "ब्राह्मण सर्वस्व" निकालते थे। सन् २१ के आन्दोलन में वे भी जेल गये थे और हमारे साथ लखनऊ जेल में रहे थे। उनसे मेरी परम आत्मीयता थी। समय समय पर मैं उन्हें उत्सवों पर बुलाता भी रहा। वे सनातन धर्म के नेता थे।

हमारे ब्रह्मचारीजी बड़े ही भजनानन्दी, त्यागी तथा तितिक्षा प्रिय थे। वे किसी को त्यागी तितिक्षु देखते तो परम प्रमुदित होते। हम तीनों की त्याग तितिक्षा से वे बड़े प्रसन्न हुए। हमें उत्साहित किया। भिक्षा करायी और अनेक प्रकार की धार्मिक चर्चा करते रहे। गङ्गा किनारा था। जो त्यागी, विरागी, सन्यासी महात्मा उधर से निकलते उन्हें भिक्षा कराते। हमसे दो चार दिन पहिले ही कुछ दिन रहकर स्वामी रामदेवजी महाराज वहाँ से आगे गये थे।

उन दिनों स्वामी रामदेवजी की अवस्था सोलह सत्रह वर्ष की ही रही होगी। केवल एक ही लँगोटी रखते थे। भिक्षा भी नहीं माँगते थे, जो कोई दे देता तो खा लेते नहीं भूखे ही रह जाते। उन दिनों उनकी त्याग तितिक्षा पराकाष्ठा पर पहुँची थी। जाड़ा हो, गर्मी हो, चाहे वर्षा हो, वे नग्न ही रहते। केवल एक ही कोपीन रखते। स्नान करके उसे हो गीली पहिने रहते। गङ्गा किनारे किनारे घूमते रहते। पात्र नहीं, वस्त्र नहीं, किसी प्रकार का सग्रह नहीं, किसी से विशेष बात चीत नहीं। न किसी से लेना न देना। बिना माँगे जो मिल जाय उसे खा लेना और बिना कुछ बिछाये जहाँ स्थान मिला पड़े रहना। एक बार स्वामी

के शरीर में बड़ी-बड़ी माता निकलीं, ज्वर आ गया। पीव बहने लगा। ३-४ दिन तक बिना कुछ खाये-पीये ज्वर मे झाड़ी में पड़े रहे। जब एक ग्वाला अहीर ने उन्हें इस दशा में पड़े देखा तो उठा ले गया, मुख में दूध डाला। सेवा सुश्रूषा की। इस छोटी अवस्था में ऐसा त्याग इतनी तितिक्षा बहुत कम देखने में आती है। अवस्था के साथ ही साथ शनैः शनैः तितिक्षा कम होने लगी। होता ही है बुखार और वैराग्य सदा एक-सा नहीं रहता। हमारे ब्रह्मचारीजी स्वामी रामदेवजी के त्याग वैराग्य से अत्यन्त ही प्रभावित हुए। उन्होंने कई दिनों तक आग्रह पूर्वक उन्हें अपने समीप रखा। वे हमसे आगे ही आगे चल रहे थे। जब हम नरवर पर पहुँचे तब तक वे नरवर से आगे बढ़ गये थे। श्री-ब्रह्मचारीजी ने उनकी हमसे बड़ी प्रशंसा की। हम उनके सम्बन्ध में पीछे से ही सुनते आ रहे थे, उनसे भेंट तो फिर बहुत दिनों पश्चात् हुई।

हाँ तो हम नरवर से आगे चले। विहार घाट पहुँचे। विहार घाट में एक ब्रह्मचारीजी स्यात् उनका नाम हीरानन्दजी था-वे साधुओं के लिये क्षेत्र चलाते थे। बड़े कर्मठ थे। हम लोग चौका उठाने पर पहुँचे। पैदल चलने से, नग्न रहने से तथा युवावस्था के कारण उन दिनों जठराग्नि बहुत तीव्र हो गयी थी। इस समय अपने उस आहार को स्मरण करते हैं, तो आश्चर्य होता है। ब्रह्मचारीजी के यहाँ जाकर हमने भोजन की इच्छा प्रकट की। उनके किसी व्यक्ति ने हमें बहुत-सी खरी-खोटी बातें सुनायीं। उन दिनों हमें खरी-खोटी बातें सुनने का-सुनकर उन्हें सहन करने का अभ्यास हो गया था। अतः हमने कुछ भी नहीं कहा। चुप चाप सुनकर बगीचा में पेड़ों की छाया में जाकर बैठ गये। जब ब्रह्मचारीजी ने सुना तीन ब्रह्मचारी भूखे बैठे हैं और हमारे

आदमी ने उनका तिरस्कार किया है, तो वे आये, बड़ी नम्रता से बोले—"भैया, तुम धन्य हो, जो इस अवस्था में इतने सहनशील हो, मैं अपने आदमी के दुर्व्यवहार की क्षमा याचना करता हूँ। भोजन तैयार हो रहा है, प्रसाद पाकर ही जाना।"

हमने कहा—"महाराज! काहे की सहनशीलता है, कुत्ते को टुकड़ा दिखाओ। फिर उसमें डण्डा मारो तो चला जायगा। फिर टुकड़ा दिखा दो तो चला आवेगा। इसे सहनशीलता नहीं कहते हैं यह तो टुकड़े का लालच है। हम बैठे हैं प्रसाद पाकर ही जायँगे।"

उन्होंने कच्चे अमरूदों का साग और रोटियाँ बनवायीं। कच्चे अमरूद के साग में जैसा स्वाद उस दिन आया, वैसा स्वाद फिर जीवन भर कभी नहीं आया। वह साग का स्वाद नहीं था भूख का स्वाद था। प्रसाद पाकर चल दिये। स्वामी शंकरानन्दजी की कुटिया पर आये। स्वामीजी पहिले अलीगढ जिले की तहसील इगलास के पास बेंसवाँ ग्राम में धरणीधर तालाब के निकट रहते थे। उधर उनकी बडी ख्याति थी। एक संस्कृत पाठशाला स्थापित कर रखी थी। यज्ञयागादि भंडारे भी कई कराये थे। पंजाबी शरीर था। बहुत ही हृष्ट पुष्ट सुन्दर थे। वे कनखल के उदासी स्वामी केशवानन्दजी के शिष्य के शिष्य थे। महामहोपाध्याय महामंडलेश्वर स्वामी केशवानन्दजी संस्कृत के ख्यातिनामा विद्वान् थे। संस्कृत के अच्छे कवि भी थे। उदासी सम्प्रदाय में उनकी बडी ख्याति थी। महाराजा नाभा तथा अन्य भी राजे महाराजे उनमें बडी श्रद्धा रखते थे। बड़े निर्भीक प्रत्युत्पन्न मति तथा स्वतन्त्र विचार के थे। कनखल में उनका अपना सुन्दर आश्रम था। जब हम मुक्ति पीठ में रहकर गायत्री का अनुष्ठान कर रहे थे, तब वे प्रायः नित्य ही घूमते हुए हमारी कुटिया पर

आ जाते। घण्टों बातें करते रहते। मैं और इन्द्र दोनों थे। दोनों के ऊपर धारा प्रवाह श्लोक बनाते जाते। हमसे उनका सहज स्नेह हो गया था। कभी कोट, बूट और टोप लगाकर आते। कभी गेरुए कपड़े पहिनकर आते। कभी सिपाही साथ रखते, कभी सेना को साथ लेकर चलते। उन्होंने अपने ऊपर एक महाकाव्य की रचना की थी जिसका नाम था "केशव दिग्विजय" इन्द्र से उसकी प्रतिलिपि कराया करते। एक दिन क्रोध में आकर इन्द्र ने उनकी समस्त पांडुलिपि नहर में फेंक दी।" इतने पर भी उन्होंने क्रोध नहीं किया। वे बड़े प्रत्युत्पन्न मति थे। विहार में उनके बहुत से शिष्य सेवक थे। वहाँ भी प्रायः जाते थे। उनकी प्रत्युत्पन्न मति की एक कथा मुझे याद आती है—

गाँवों में कुछ लोग 'ज्ञानलवदुर्विदग्ध' होते हैं। वे पढ़े लिखे तो बहुत होते नहीं। इधर-उधर से दश-बीस बातें सुन सुनाकर याद कर लेते हैं। जब कोई कथावाचक, उपदेशक आता है तो ग्रामीण लोगों पर अपनी विद्वत्ता का प्रभाव जमाने को वक्ता से उसके भाषण के बीच में ही ऐसे ऊट-पटांग प्रश्न कर देते हैं, जिसका वक्ता उत्तर न दे सके। तब वे लोगों से कहतेहैं—"ऐसे वक्ताओं को तो हम चुटकी में परास्त कर देते हैं। वे बात-बात में दरक (तर्क) करते हैं। ये वहाँ भाषण कर रहे थे। ऐसे ही एक आदमी ने इनके भाषण के ही बीच में पूछा—"स्वामीजी! हमारी एक शंका है?"

स्वामीजी ने कहा—"क्या शंका है?"

वह बोला—"नरसी मेहता के पिता का क्या नाम था?"

आप हँसे और बोले—"बस, इतनी-सी ही बात है। अच्छा, सुनो। नरसी के बाप का नाम फरसी, फरसी के बाप का नाम खरसी और खरसी के बाप का नाम गरसी है। इतना तो मुझे

कठस्थ है। इससे आगे जानना चाहो तो पोथी पत्रा खोलूँ?"

उसने कहा—"नहीं महाराज? हमारी शङ्का का समाधान हो गया। जब सभा समाप्त हो गयी तब स्वामीजी के एक शिष्य ने कहा—"महाराज! नरसी मेहता के पिता का नाम करसी मेहता तो नहीं था।"

स्वामीजी ने कहा—"नरसी मेहता के बाप का कुछ भी नाम हो, हमें तो वहाँ उसकी बोलती बन्द करनी थी।"

इसी का नाम सभा चातुरी है। वे शास्त्रार्थ में अच्छे-अच्छे पंडितों को परास्त कर देते थे। उनके एक बड़े सीधे सादे शिष्य थे, हमारे स्वामी शकरानन्द जी उन्हीं के शिष्य थे। जब वेसवाँ में उन्होंने यज्ञ भंडारा किया तब स्वामी केशवानन्दजी को भी बुलाया था और उनको हाथी पर बिठाकर उनकी शोभा यात्रा निकाली थी। तब गाँवों में हल्ला हो गया था, स्वामीजी के गुरु राजे महाराजा के भी गुरु हैं। स्वामी शङ्करानन्द जी ने हिन्दी में कई पुस्तकें भी लिखकर छपायीं। बड़े गम्भीरशाली स्वस्थ महात्मा थे। बादामों का सेवन पजाबी होने से अधिक करते थे। उनकी एक भक्ता शिष्या कोई धन सम्पन्ना थी। उसी के आग्रह पर यहाँ गङ्गा तट पर कुटिया बनाकर रहते थे। कभी-कभी वेसवाँ भी जाते थे। उनसे बहुत देर बातें हुईं। वहाँ से रामघाट होते हुए हम कर्णवास पहुँचे।

कर्णवास गंगा किनारे बड़ा सुन्दर स्थान है। पक्के घाट पर साधु महात्माओं के ठहरने को बहुत सी कुटियायें बनी हैं। पहिले साधुओं के लिये वहाँ एक अन्न क्षेत्र भी था। वहाँ अच्छे अच्छे महात्मा उन दिनों रहते थे। आर्य समाज के प्रवर्त्तक श्री स्वामी दयानन्दजी सरस्वती भी यहाँ बहुत दिनों तक रहे हैं। वे भी गंगाजी के अत्यन्त प्रेमी थे। गंगा किनारे किनारे

वे भी कुछ दिनों तक नग्न होकर घूमते थे। इधर वे चिरकाल तक रहे।

कहते हैं—"दानवीर कर्ण ने इसे बसाया था और वे कुछ काल यहाँ रहे भी थे। कर्णवास उन दिनों साधुओं का गढ़ माना जाता था। अब पुराने महात्माओं में एक बंगाली स्वामी निर्मलानन्द ही शेष रह गये हैं।

कर्णवास से आगे भैरिया ग्राम है। उसे भृगु क्षेत्र कहते हैं। एक बंगाली स्वामी वहाँ रहते थे। जिनका योगपद था स्वामी रामानन्दजी पुरी। उन्हीं के शिष्य थे श्री स्वामी शास्त्रानन्दजी। जो स्वामीजी के शरीरान्त के पश्चात् भगवानपुर में रहने लगे थे। मैंने बंगाली स्वामीजी के दर्शन तो किये नहीं तब तक वे परलोकवासी हो चुके थे। उनकी पक्की कुटिया बनी थी। वहीं समीप में उन दिनों नौका में श्रीस्वामी अच्युत मुनि जी रहते थे। उन्हीं की प्रेरणा से बम्बई के किन्हीं रूइया सेठ ने साधुओं के लिये अन्न क्षेत्र खोल रखा था। दिन में साधुओं को भरपेट भिक्षा मिलती थी। रात्रि में आध-आध सेर दूध मिलता था। स्वामी जी की इच्छा वहाँ एक साधुओं के लिये वेदान्त विद्यालय खोलने की थी। इसीलिये पंजाब से वेदान्त के परम धुरन्धर विद्वान् स्वामी विश्वेश्वराश्रम जी को उन्होंने बुलाया था। हम जब भैरिया में पहुँचे इसके कुछ दिनों पूर्व ही स्वामीजी भैरिया आये थे। जैसी वे सेवा चाहते थे वैसी वहाँ उनकी सेवा होती नहीं थी। भिक्षा बारह बजे मिलती, स्वामीजी को इससे पहिले जलपान की आदत रही होगी। मुझसे कहा—"ब्रह्मचारी जी! क्या बतावें बारह बजे तक भिक्षा न मिलने से मेरे सिर में पीड़ा होने लगती है। पीछे स्वामीजी नरवर पाठशाला में रहकर

वेदान्त पढ़ाने लगे। खुरजा के सेठ ने उनकी भिक्षा का समुचित प्रबन्ध कर दिया था।

स्वामी अच्युत मुनि जी का पूर्वाश्रम का नाम पं० दौलतराम था, वे आर्य समाज के उपदेशक थे। और डी० ए० वी० कालेज में पढ़ाते भी थे। घर छोड़कर वे गृहस्थी वेष से ही अँगरखी पाइजामा पहिनकर गंगा किनारे-किनारे विचरते रहे। वे वेदान्त के प्रगाढ़ विद्वान् थे। पंचदशी उनका इष्ट ग्रन्थ था। वह उन्हें प्रायः कण्ठस्थ था। सभी को इसे पढ़ाते थे। हमारे श्रीहरि बाबा जी भी पहिले-पहिल इन्हीं के पास आकर कुछ दिनों तक वेदान्त पढ़ते रहे। एक बार अत्यन्त रुग्ण होने पर इन्होंने अपने ही आप आतुर संन्यास ले लिया, तभी इनका नाम अच्युत मुनि पड़ा। खुरजे के सेठ गौरीशंकरजी गोयनका बड़े भावुक थे। वे इनकी विद्वत्ता से अत्यन्त प्रभावित हुए। इन्होंने ही एक सुन्दर बजरा इनके लिये बनवा दिया था। उसी में ये गंगा के बीच में रहते थे। समाचार पत्र पढ़ने का इन्हें अत्यन्त व्यसन था। दो चार समाचार पत्र वे नित्य मँगाते। देश काल की परिस्थिति का इन्हें बहुत ज्ञान था। मैंने बुलन्दशहर जिले में ही कार्य किया था। अतः वे मेरे नाम से तो परिचित ही थे। इस अवस्था में हमें देखकर वे बड़े प्रसन्न हुए। बहुत देर तक देश सम्बन्धी बातें करते रहे। उसी समय बम्बई से 'कल्याण' मासिक पत्र निकलना आरम्भ हुआ था। उसका प्रथम अङ्क हमने उनके ही पास देखा था। पीछे वह गोरखपुर से निकलने लगा और उसने बड़ी ख्याति प्राप्त कर ली। आज वह धार्मिक पत्रों में सर्वश्रेष्ठ पत्र है। दो लाख के लगभग उसके ग्राहक हैं।

भैरिया से चलकर हम अनूपशहर में आये। अनूप २। भी उन दिनों साधु सन्तों का अड्डा था। वहाँ गुजराती

के यहाँ से साधुओं को भिक्षा भी पर्याप्त मिलती थी। मैं तो यहाँ पहिले रह ही चुका था, यहीं चान्द्रायणादि व्रत भी किये थे। यहीं पहिले पहिल सेठ गौरीशङ्करजी की धर्मशाला में श्रीहरि बाबा जी के दर्शन हुए थे। अब तो उस पार श्रीहरि बाबाजी का बाँध बन चुका था। श्रीहरि बाबाजी की इस प्रान्त में सर्वत्र अत्यन्त ख्याति हो चुकी थी। जब बाँध बँध रहा था, तभी रामेश्वर ने मुझे काशी से बुलाया था, किन्तु मैं आ नहीं सका। बाँध श्रीहरि बाबाजी के पुरुषार्थ का परम प्रतीक है। इसकी विशेष चर्चा हम अगले प्रकरण में करेंगे।

हम काशी से तीन व्यक्ति चले थे। इन्द्र, गोविन्द और मैं। गोविन्द का घर का नाम सहसराम था। वह मध्यप्रदेश के बिलासपुर जिले की धमतरी तहसील का रहने वाला था। मेरे पास काशी में आया था। मैंने ही उसका नाम गोविंद रखा था। फिर वह मुझसे आज्ञा लेकर अनूपशहर में ही रह गया था। यहाँ वह बच्चों को पढ़ाता था सार्वजनिक सेवा करता था। जब मैं संग्रहणी का रोगी बनकर पुनः अनूपशहर में आकर रहने लगा था तब उसने मेरी अत्यन्त ही सेवा की थी। वह सेवा परायण व्यक्ति था। मेरे प्रति उसका अत्यन्त ही अनुराग था। मैं जहाँ भी उसे भेजता तुरन्त चला जाता। सुप्रसिद्ध बरेली के क्रान्तिकारी सेठ दामोदरस्वरूप मंसूरी में अत्यन्त रुग्ण थे। उनकी सेवा करने वाला कोई नहीं था। उन्होंने बड़ी दीनता से राजपुर में मुझसे कहा—"ब्रह्मचारी जी! मेरी सेवा करने वाला कोई नहीं है। इसका आप प्रबन्ध करा दें।" मैंने तुरन्त गोविन्द को उनकी सेवा में भेजा। किसी को भी आशा नहीं थी कि सेठ दामोदरस्वरूप बच जायँगे। लगभग छः महीने गोविन्द ने उनकी प्राणपण से सेवा की और दामोदर स्वरूपजी अच्छे हो

गये। पीछे वे कांग्रेस में आ गये। अब पता नहीं वे जीवित हैं या नहीं।

अब स्मरण नहीं आता है, कि अनूपशहर से या कहीं दूसरे स्थान से हम गंगा किनारा छोड़कर वृन्दावन के दर्शनों को चले गये। उन दिनों वृन्दावन में मिर्जापुर वाली धर्मशाला में हिन्दी साहित्य सम्मेलन का अधिवेशन हो रहा था। पं० अमृतलाल जी चक्रवर्ती उसके सभापति थे, वे मुझसे पहिले निगमागम चन्द्रिका के सम्पादक रह चुके थे। महामना मालवीयजी भी उसमें पधारे थे। और भी हमारे अनेकों साहित्य बन्धु आये थे। पंडित हरिशंकर शर्मा, पं० माखनलाल चतुर्वेदी, पं० बनारसी दास जी चतुर्वेदी; पं० लक्ष्मीधर जी वाजपेयी तथा प्रयाग के और भी बहुत से साहित्यकार वहाँ मिल गये। पं० हरिशंकरजी शर्मा हमारे इस वेश को देखकर गद्गद हो गये। बहुत देर तक हमारी यात्रा के सम्बन्ध में पूछते रहे। कैसे चलते हो, कितने चलते हैं। कैसे खाते हो, भिक्षा में कुछ कठिनायी तो नहीं होती, यहाँ तो भिक्षा माँगनी न पड़ी होगी। यहाँ तो आपको भोजन मिल ही गया होगा ?

वैसे यहाँ हमारे सब परिचित ही थे। स्वागतकारिणी समिति के सभापति पं० राधाचरण जी गोस्वामी थे ! आचार्य अनन्तलाल गोस्वामी कार्य करते थे। गोस्वामी राधाचरण जी से बातें भी हुईं, किन्तु परिचित पुरुषों से भोजन की याञ्चा करने में हमें बड़ी लज्जा लगी। वहाँ किसी ने हमसे भोजन के लिये पूछा नहीं। इससे पूर्वदिन भी या तो भिक्षा मिली नहीं या अपर्याप्त मिली होगी। दिन भर तो भूख सहन कर ली। रात्रि में जाकर रङ्गजी के बगीचा में सोये। हम दो ही थे, इन्द्र और मैं। जब रात्रि के दस बजे भूख ने अत्यन्त ही विह्वल

बनाया तब मैंने इन्द्र से कहा—"भैया! कहीं से कुछ माँगकर लाओ।" वह तुरन्त उठा और माँगने चल दिया। लगभग घंटे भर पश्चात् लौटकर आया। एक परामठा, कुछ खील उसे भिक्षा में मिली। उसी को बाँटकर खाकर बहुत-सा जल पीकर सो गये।

प्रातःकाल उठते ही भूख ने उग्ररूप धारण कर लिया। यमुना स्नान करके यमुना किनारे-किनारे चले। गुरुकुल में आये, गुरुकुल के बाहर कुछ अमरूद के पेड़ खड़े थे। उन पर कच्चे कठा अमरूद लगे थे। वे अमरूद बेचे नहीं जाते, एक प्रकार के जङ्गली थे। पत्थर की भाँति कड़े। हम पेड़ पर चढ़ गये और उन पत्थर के समान कड़े कच्चे अमरूदों को खाने लगे। पता नहीं पचास खाये या सौ, जब पेट भर गया और अमरूदों ने कंठ के नीचे उतरने से मना कर दिया उबकायी आने लगी तब हमने खाना बन्द किया और आगे चल दिये।

अब सोचता हूँ वे अमरूद कैसे खाये गये। आज एक भी अमरूद ऐसा किसी भी प्रकार गले से नीचे नहीं उतर सकता। शास्त्रों में जो कहा गया है "कष्टात् कष्टतरी क्षुधा।" इसका अनुभव तभी हुआ। "विभुक्षितः किं न करोति पापम्" भूखा क्या पाप नहीं करता—उसका अर्थ तभी समझा। यद्यपि हमने कोई पाप तो किया नहीं। वे अमरूद जङ्गली थे। उन्हें कोई भी खा सकता था। पकने पर गाँव के लड़के ही खाते। स्यात् वे पकने वाले थे नहीं। किन्तु ऐसे पत्थर से अमरूदों को जठराग्नि ने पचाया कैसे? उन दिनों पेट की अग्नि भी तीव्र से तीव्रतम बन गयी थी। जब मैं गुरुकुल वृन्दावन के वार्षिकोत्सव पर गोरक्षा सम्मेलन का सभापति बनकर गुरुकुल में गया था, तब मैंने अपना यह संस्मरण सबको सुनाया था। हमारे पं० हरिशंकर

जी तो सुनकर दुखी हुए होंगे। समय सब कुछ करा लेता है।
"समय एव करोति बलाबलम्।"

वृन्दावन से लौटकर फिर हम गंगा किनारे आ गये। संस्मरण का स्थान भर गया। अब श्रीहरिबाबा के बाँध के संस्मरण पाठक पाठिकायें अगले संस्मरणों में सुन सकते हैं।

छप्पय

समय नचावत नाच समय ही ठाठ जमावै।
समय करै बलवान् समय ही अबल बनावै॥
समय नृपति हरिचन्द राज के सब सुख भोगत।
समय पाइ वे श्वपच-दास बनि मरघट रोवत॥
समय करावत त्याग है, समय समही करतु है।
समय खाय स्वादिष्ट फल, समय भूख ते मरतु है॥

झूसी संकीर्तन भवन, प्रतिष्ठानपुर
(प्रयाग)
माघ शु० पूर्णिमा २०२९ वि०

विनीत
प्रभुदत्त

र

ध्यानबिन्दु-उपनिषद्-सार (२)

[३०२]

आसनं प्राणसंरोधः प्रत्याहारश्च धारणा ।
ध्यानं समाधिरेतानि योगाङ्गानि भवन्ति षट् ॥*
(ध्या० बि० उ० ४१ मं०)

छप्पय

आसन, प्राणायाम तीसरो प्रत्याहारहु ।
चौथे पाँचे छठे धारणा ध्यान समाधिहु ॥
आसन जितने जीव पूर कुम्भक अरु रेचक ।
मूलादिक षटचक्र नाड़ि दश सुषुमन रचक ॥
स्वास प्रस्वास चलै सतत, हंस हंस जपि जीव नित ।
सहस बीस इक शतहु षट, मन्त्र माहिँ बुध देइँ चित ॥

जीव का परब्रह्म परमात्मा के साथ मिलन हो जाय, संयोग हो जाय, उसी का नाम योग है। वैसे देखा जाय, तो जीव और ब्रह्म का तो नित्य ही योग है, किन्तु बीच में जो यह माया आ गयी है, यह चैतन्य सच्चिदानन्द परब्रह्म को तो भ्रम में डाल नहीं सकती। यह जड़ अन्तःकरण में विभ्रम उत्पन्न कर देती है। चित्त की वृत्तियों को बिखेर देती है, चित्त नाना प्रकार की

---

* आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि ये ही योग के छः अङ्ग हैं।

वृत्तियों के साथ बिखर जाता है। उन बिखरी हुई वृत्तियों का निरोध करना, इन्हें एकाग्र करना, एक सूत्र में बाँधे रखना यही योग कहलाता है। चित्त इतना चचल है, कि वह एक रस्सी से बँध नहीं सकता। उसको बाँधने के लिये ६ ६ रस्सियाँ चाहिये। उन रस्सियों के नाम हैं (१) आसन, (२) प्राणायाम, (३) प्रत्याहार, (४) धारणा, (५) ध्यान और (६) समाधि। इनके द्वारा वृत्तियों को एकाग्र करके सुषुम्ना द्वार से प्राण को ब्रह्मरन्ध्र में ले जाय। उसे दशम द्वार से निकाल दे, तो फिर जीव ससार मे नहीं बँधता। वह बन्धन मुक्त हो जाता है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! प्राण, मन और ब्रह्मचर्य इन तीनों में से किसी भी एक का निरोध हो जाने पर तीनों का ही निरोध हो जाता है, क्योंकि इन तीनों का परस्पर में अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। भौंहों का मध्यभाग, ललाट, नासिका का मूल स्थान, ये तीनों अमृत स्थान बताये गये हैं। ये ब्रह्म के आयतन हैं, घर हैं, निवास के स्थान हैं। योग के द्वारा इन स्थानों में प्राणों का निरोध करना चाहिये।'

शौनकजी ने पूछा—'सूतजी! योग किसे कहते हैं?"

सूतजी ने कहा—"चित्त की बिखरी हुई वृत्तियों का निरोध ही योग कहलाता है।"

शौनक—'योग के कितने अङ्ग हैं?"

सूत—"योग के ६ अङ्ग हैं।"

शौनक—"कौन कौन से?"

सूतजी—"(१) आसन, (२) प्राणायाम, (३) प्रत्याहार, (४) धारणा, (५) ध्यान और (६) समाधि ये ही योग के ६-अङ्ग कहलाते हैं।"

शौनकजी—"आसन किसे कहते हैं?"

सूतजी—"स्थिर होकर सुषुम्ना को सीधी करके सुखपूर्वक बैठने का नाम आसन है।"

शौनकजी—"आसन कितने हैं ?"

सूतजी ने कहा—"देखिये, आसनों की कोई संख्या नहीं, जितने जीव हैं उतने ही प्रकार के आसन भी हैं। क्योंकि सभी जीव किसी-न-किसी ढँग से बैठते ही हैं। जिस ढँग से बैठे उसी का नाम आसन है। फिर भी आसनों में १–सिद्धासन, २–भद्रासन, ३–सिंहासन और ४–पद्मासन ये चार मुख्य आसन हैं। आसन से बैठकर सुषुम्ना में जो चक्र हैं उनका भेदन करे।"

शौनकजी—"कितने चक्र हैं ? और वे कहाँ कहाँ हैं ?"

सूतजी—"छः चक्र बताये हैं। पहिला आधार या मूलाधार चक्र है। दूसरा स्वाधिष्ठान चक्र। मूलाधार चक्र गुदा में है। वह चार दल वाला है। दूसरा जो स्वाधिष्ठान चक्र है वह योनि स्थान में है, उसे काम रूप कहते हैं। गुदा से ऊपर योनि स्थान है उसके मध्य में पश्चिमाभिमुख लिङ्ग स्थित है। मस्तक में मणि के सदृश भिन्न है। उसे जो भली-भाँति जानता है, वही योगवित् है। तपाये हुए सुवर्ण के सदृश, विद्युत् की रेखा के समान चमकीला चौकोन है। मेढ़् के लिङ्ग के नीचे और अग्नि के ऊपर वह स्वाधिष्ठान चक्र है। इसे स्वाधिष्ठान क्यों कहते हैं ? स्व शब्द का अर्थ है प्राण। प्राण का अधिष्ठान होने से वह स्वाधिष्ठान कहलाता है। मेढ़् में–लिङ्ग–में यह चक्र है। मणि के सूक्ष्मातिसूक्ष्म तन्तु द्वारा यहीं से सम्पूर्ण शरीर में वायु जाती है, जिससे सम्पूर्ण शरीर वायु से पूरित होता है। तो पहिला चक्र गुदा में मूलाधार, दूसरा मेढ़् में अधिष्ठान चक्र और तीसरा नाभि में मणिपूरक चक्र है। यह बारह दल का चक्र है। पुण्य और पाप का नियन्त्रण करने वाला है। जीव संसार में

तभी तक भ्रमता रहता है, जब तक उसे तत्त्व का ज्ञान नहीं होता। मेढ़्-लिङ्ग-से ऊपर और नाभि से नीचे कन्द स्थान है। वह कन्द पक्षी के अंडे के आकार का है। उसी कन्द से सहस्रों नाड़ियाँ निकलकर सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त होती हैं। बहत्तर सहस्र नाड़ियाँ यहाँ से निकलती हैं। इन बहत्तर हजार नाड़ियों में बहत्तर प्रधान नाड़ियाँ हैं। इनमें भी दश नाड़ी जो प्राणवाहिनी हैं वे मुख्य बतायी गयी हैं। उनके नाम (१) इडा, (२) पिङ्गला, (३) सुषुम्ना, (४) गान्धारी, (५) हस्ति जिह्वा, (६) पूषा, (७) यशस्विनी, (८) अलम्बुसा, (९) कुहू और (१०) शङ्खिनी हैं। इस प्रकार यह मणिपूरकचक्र नाड़ीमयचक्र है। इनमें तीन नाड़ियाँ निरन्तर प्राणों का वहन करती हैं। इनके सोम, सूर्य और अग्नि ये तीन देवता हैं, और इडा, पिङ्गला तथा सुषुम्ना ये इन तीनों के नाम हैं। इनमें बाईं ओर इडा है, दक्षिण ओर पिङ्गला है और इडा तथा पिङ्गला के बीच में सुषुम्ना स्थित है। बस, ये तीन ही प्राण के मार्ग हैं।"

शौनकजी ने पूछा—"प्राण कितने हैं ?"

सूतजी ने कहा—"प्राण दश हैं। उनके नाम (१) प्राण, (२) अपान, (३) समान, (४) उदान और (५) व्यान, (६) नाग, (७) कूर्म, (८) कृकर, (९) देवदत्त और (१०) धनञ्जय। इनके आदि के पाँच तो प्राण हैं। नागादि पाँच वायु हैं। ये ही प्राण सहस्रों नाड़ियों में जीव रूप से वर्तते हैं। जहाँ प्राणों का संचार नहीं होता वह अंग शव-मृतक सदृश हो जाता है। यह जो प्राण अपान हैं-श्वास प्रश्वास हैं इसी के वश में जीव है। श्वास प्रश्वास बन्द हो जाय तो शरीर जीव रहित निर्जीव हो जाता है। ये श्वास प्रश्वास ऊपर नीचे आती जाती रहती हैं। बायें दायें से आती जाती हैं। चञ्चल होने के कारण ये दिखायी

नहीं देतीं। जैसे गेंद को भुजदण्ड से फेंकों तो वह ऊपर उछल जाती है। उसी प्रकार प्राण और अपान के फेंकते रहने से जीव को कभी विश्राम नहीं मिलता है। अपान से प्राण खींचा जाता है। और प्राण से अपान खींचा जाता है। जैसे पक्षी को सूनरी से बाँध दो। तो उड़कर वह फिर उसी डाल-पर आकर बैठ जाता है जहाँ उसकी रस्सी बँधी है। इसी प्रकार जीव प्राण अपान के बन्धन से बँधा हुआ है। इसीलिये निरन्तर प्राणों के निकलते रहने पर भी जीव निकलता नहीं। इस प्राण अपान के भेद को जो जानता है वही योगी है।"

शौनकजी ने पूछा—"प्राण अपान का क्या जानना ?"

सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन्! यह प्राण अपान क्या हैं? मानों *दो अक्षर का मन्त्र है जीव उसे निरन्तर जपता रहता है।* अज्ञानी इस रहस्य को जानते नहीं इसीलिये संसार में बँधे रहते हैं। जो इस अजपा मन्त्र को जान लेता है वह बन्धन मुक्त हो जाता है।"

शौनकजी—"दो अक्षर वाला वह कौन-सा मन्त्र है जिसे जीव सोते जागते निरन्तर जपता रहता है ?"

सूतजी—"वह दो अक्षर का मन्त्र 'हंसः' इसी को उलट दो तो 'सोहं' हो जाता है। जब श्वास बाहर निकलती है तब हं शब्द करती निकलती है, जब प्रश्वास रूप से भीतर जाती है सकार शब्द करती हुई भीतर प्रवेश करती है। इसी प्रकार श्वास प्रश्वास रूप में-प्राण अपान रूप में-हंस-हंस इस मन्त्र को जीव सर्वदा ही जपता रहता है।"

शौनकजी ने पूछा—"एक दिन रात्रि में जीव इस हंस मन्त्र को कितनी बार जपता है ?"

सूतजी—"एक स्वस्थ व्यक्ति दिन रात्रि में इक्कीस सहस्र छैः

सौ मन्त्र सर्वदा जपता है। इसका नाम अजपा गायत्री है। यह गायत्री योगियों को मोक्ष देने वाली है। इसके संकल्प से ही मनुष्य पापों से छूट जाता है। इस प्रकार की विद्या, ऐसा जप, ऐसा पुण्य-प्रद कार्य न हुआ है न होगा ही। इसी मार्ग द्वारा निरामय ब्रह्म स्थान को जानना चाहिये! देखो मूलाधार चक्र में जो शिवलिङ्ग है उसके साढ़े तीन चक्कर लगाकर अपने मुख से सुषुम्ना के द्वार को रोककर यह कुडलिनी परमेश्वरी शक्ति प्रसुप्त हुई पड़ी हुई है। मन के द्वारा अग्नि और वायु से यह जगेगी। जगकर जैसे सुई छिद्र करके डोर के सहित वस्त्र के बाहर निकल आती है उसी प्रकार यह कुंडलिनी जगकर चक्रों के देवों सहित सुषुम्ना के द्वार से ऊपर की ओर चढने लगती है। जैसे घर की किवाड़ें बन्द हों, उनमें ताला लगा हो, कुंजी से ताला खोलकर किवाड़ों को खोलकर घर में प्रवेश किया जा सकता है, उसी प्रकार कुंडलिनी सुषुम्ना में द्वार को खोलकर कुडलिनी उसमें प्रवेश करती है। अर्थात् मोक्ष के द्वार को विभेदन कर देती है।"

शौनकजी ने पूछा—"प्रसुप्त कुंडलिनी को जाग्रत कैसे करे?"

सूतजी ने कहा—'देखिये, भगवन्! दोनों हाथों को तो सम्पुटित कर ले और दृढतर पद्मासन को बाँध ले। वक्षःस्थल में चिबुक को प्रगाढ़ता के साथ लगाले। और चित्त में उसी कुंडलिनी शक्ति का ध्यान करे। गुदा को सकुचित करके बारम्बार वायु को ऊपर की ओर खींचता रहे। ऊपर से भी शब्द सहित वायु को खींचकर उससे उदर को पूरक द्वारा भर ले। फिर शनैः शनैः प्राण को छोड़ता जाय। इस प्रकार चिरकाल तक प्राणायाम का अभ्यास करने से मनुष्य शक्ति के प्रभाव से अतुल बोध को प्राप्त कर लेगा। पद्मासन में स्थित योगी सुषुम्ना नाड़ी के द्वार को खोलकर उसमें प्राणों को पूरित कर लेता है और वायु को

कुंभक करके रोक लेता है, तो वह संसार बन्धन से सदा सर्वदा के लिये छूट जाता है, इसमें किसी प्रकार का संशय नहीं है।

प्राणायाम करने से जो श्रम होता है, उस श्रम के कारण जो शरीर में श्वेद उत्पन्न हो जाता है, उस श्वेद को दोनों हाथों से शरीर में मल ले। प्राणायाम के अभ्यास करने वाले योगी को चाहिये, कि वह कड़वी, खट्टी और नमकीन वस्तुओं को न खाय। केवल दूध पीकर ही रहे, तो वह सुखी होता है।

जो योगपरायण योगसाधना करने वाला साधक योगी ब्रह्मचर्य व्रत को धारण करके तथा आहार को नियमित करके प्राणायाम का अभ्यास करता है वर्ष भर से ऊपर ही सिद्ध हो जाता है, इसमें किसी प्रकार का सन्देह नहीं। कन्द स्थान से ऊपर कुंडलिनी शक्ति है, जो उस कुंडलिनी को जानकर उसे उत्थित करने का प्रयत्न करता है वह योगी सिद्धि का पात्र होता है। जिनका प्राण और अपान एक हो गया है। अर्थात् जिन्हें प्राणायाम की सिद्धि हो गयी है, उनका मलमूत्र क्षय हो जाता है, अर्थात् उदर में मल और मूत्र अत्यन्त ही न्यून मात्रा में बनता है। प्राणायाम का अभ्यास करने से और मूलबन्ध से (गुदा को संकुचित करने से) वृद्ध पुरुष भी युवा के सदृश हो जाता है।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! मूलबन्ध किसे कहते हैं?"

सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन! यह पार्ष्णिभाग है। दोनों नितम्बों के मध्य का भाग उसे संपीड़न करके जो योनि स्थान है–गुदा की तीन अवलियाँ हैं इन्हें सिकोड़कर ऊपर की ओर जितना भी संकुचित करके अपानवायु को ऊपर की ओर खींचने का ही नाम मूलबन्ध है। इससे समस्त नाड़ी जाल बँध जाता है। मूलबन्ध के अनन्तर उड्याण बन्ध को बाँधे।"

शौनकजी ने पूछा—"उड्याण बन्ध किसे कहते हैं ?"

सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन्! जैसे बडा पक्षी बिना विश्राम लिये आकाश में उडान लेता रहता है अर्थात् उडता रहता है—उसी को बाँध ले इसी का नाम उड्याण बन्ध है। पेट को जितना भीतर खींचकर ले जा सके उसे उतना ही खींचे। पीछे की ओर तानकर नाभि के ऊपर कर ले। यही उड्याण बन्ध कहलाता है। यह बन्ध मृत्यु रूप हाथी के मारने के लिये सिंह के सदृश है। अर्थात् उड्याण बन्ध सिद्ध हो जाने पर साधक मृत्युजित हो जाता है।

उड्याण बन्ध के अनन्तर जालन्धर बन्ध को बाँधे। जालन्धर इसलिये इसका नाम है कि शिरोजात अधोगामी भोजल को यह बाँधता है। इसके बाँधने का क्रम इस प्रकार है कि कानों को सकुचित करके चिबुक को वक्षःस्थल मे सटा ले। इससे होता क्या है, कि अमृत-वीर्य-अधोगामी न होकर अग्नि में गिरता नहीं। और वायु का आना जाना भी रुक जाता है। यह जालन्धर बन्ध कर्मजन्य जो दुःखो की राशि है उसका नाश कर देता है। तीनों बन्धों को बाँधकर फिर खेचरी मुद्रा करे।"

शौनकजी ने पूछा—"खेचरी मुद्रा किसे कहते हैं ?"

सूतजी ने कहा—'ब्रह्मन्! यह शरीर मलायतन है। मल का घर है। शरीर के चौदह स्थानो से (दो कानों के छिद्र, दो आखों के, दो नाक के, दानों दाँतों की पंक्तियों से, दोनो ओठों से, जिह्वा के नीचे से, जिह्वा के ऊपर से और मल द्वार तथा मूत्र-द्वार से) निरन्तर मल रिसता रहता है। मुख मे मल निकलते रहने के छैः स्थान हैं। इससे जिह्वा के नीचे गाँठें पड जाती हैं, मल एकत्रित होने से जिह्वा मोटी हो जाती है,वह भीतर की ओर उलट कर जाती नहीं। वात पित्तादि दोषों से कपाल कुहर

संकुचित हो जाता है। विपरीत प्राणायाम से जिह्वा दोहन से मुखगत मल को निकालकर कफज अपक्वव्रणों को गलाकर जिह्वा को पतली और लम्बी बनावे। फिर जिह्वा को उलटकर कपाल कुहर में ले जाय और अपनी दृष्टि को दोनों भौंहों के मध्य में स्थिर करले इसी का नाम खेचरी मुद्रा है। खेचरी मुद्रा सिद्ध हो जाने पर कोई रोग शरीर में नहीं रहता, मृत्युजित हो जाता है। उसे क्षुधा, तृषा, निद्रा तथा मूर्च्छादि कोई भी बाधा कष्ट नहीं पहुँचाती। वह न तो रोगों द्वारा पीड़ित होता है और न कर्मों में लिपायमान होता है। वह काल के बन्धन में भी नहीं बँधता। ऐसी इस खेचरी मुद्रा की महिमा है। इसका नाम खेचरी क्यों है? इसलिये कि चित्त आकाश में विचरता रहता है, इसी प्रकार जिह्वा भी उलटकर आकाश में विचरती है। इसीलिये यह सिद्धों द्वारा नमस्कृत खेचरी मुद्रा कहलाती है। जिसकी लम्बी जिह्वा उलटकर कपाल कुहर में चली जाती है उसका कभी वीर्यपात नहीं होता। भले ही वह कामिनी का आलिंगन ही क्यों न किये हो। जब तक देह में विन्दु-वीर्य-स्थित है, तब तक मृत्यु का भय हो ही नहीं सकता। क्योंकि मरण तो विन्दुपात से ही होता है। विन्दु धारण का ही नाम जीवन है। जब तक खेचरी मुद्रा बँधी है, तब तक विन्दु का पतन हो ही नहीं सकता। मान लो विन्दु गल भी जाय और वह योनि मंडल में गिर भी जाय। तो योनि मुद्रा-द्वारा फिर बँधकर आकर्षण द्वारा खिचकर पुनः शरीर में आ जाता है। कैसे आ जाता है उसकी विधि बताते हैं।

विन्दु दो प्रकार का होता है। एक सफेद रंग का तथा दूसरा लोहित-रक्त-वर्ण का। पांडर-सफेद-वर्ण के को शुक्र या वीर्य कहते हैं और लोहित-रक्त-वर्ण के को महारज कहते हैं। विद्रुमगणि

के सदृश योनि स्थान में रहने वाला रज कहलाता है। और चन्द्रस्थान में बिन्दु रहता है, इन दोनों का एक्य हो जाय, तब तो कहना ही क्या है, किन्तु इनका एक्य होना बड़ा दुर्लभ है। क्योंकि बिन्दु शिव स्वरूप है और रज शक्ति स्वरूपा है। बिन्दु चन्द्रमा है और रज सूर्य है। उन दोनों का संमिश्रण हो जाय और वह संमिश्रित बिन्दु शरीर मे रम जाय, तो उससे दिव्य शरीर की प्राप्ति हो जाती है। वायु के द्वारा शक्ति के चालन से आकाश में प्रेरित जो रज है। वह सूर्य के द्वारा शुक्र मे एकत्व को प्राप्त होगी। उसी समिश्रण से दिव्य शरीर होता है। देखो, सफेद शुक्र चन्द्र स्वरूप है। रक्त वर्ण जो रज है वह सूर्य समन्वित है। दोनों जब मिल जाते हैं, सयुक्त हो जाते हैं, तो इन दोनों के समरसी भाव को जो यथार्थ रूप से जानता है वास्तव में वही योगवेत्ता हे।

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! महामुद्रा किसे कहते हैं ?"

सूतजी ने कहा—"भगवन्! नाड़ियों में जो मलों का जाल भरा हुआ है, उन मलों के शोधन करने को तथा चन्द्र सूर्य जो शिव शक्ति स्वरूप हैं उनके संघटन को तथा रसों के सम्यक् प्रकार शोपण को ही महामुद्रा कहते हैं। इसे करे कैसे ? इसको बताते हैं-अपने हनु ठोढ़ी- को वक्षःस्थल में जमा ले और सुपिर–को निपीड़न-भींच-कर बायें पैर से योनि स्थान को दबाकर, दोनों हाथों को भली प्रकार फैलाकर तथा दक्षिण पैर को फैलाकर फिर श्वास खींचकर दोनों कुक्षियों में वायु को भर ले। कुछ देर ठहर कर फिर शनैः शनैः वायु का रेचन करे। इसी का नाम महामुद्रा है। यह महामुद्रा मनुष्यों के महापातकों का भी नाश करने वाली है।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! यह मैंने मूलाधार, स्वा-

धिष्ठान और मणिपूरक चक्रों का विवरण बताया। प्रसंग वश अजपा गायत्री, मूलबन्ध उड्यान, बन्ध, जालंधर बन्ध, खेचरी मुद्रा, तथा महामुद्रा आदि का भी वर्णन किया। अब अन्य चक्रों का आत्मनिर्णय का व्याख्यान मैं आगे करूँगा। भगवन्! यह योग का बड़ा गूढ़ विषय है, इसका यथार्थ रहस्य तो जिन्होंने निरन्तर याग का अभ्यास करके सिद्धि प्राप्त की है, ऐसे योगी ही जानते हैं। मैंने तो आपके सम्मुख शास्त्रीय वचनों का अपनी क्षुद्र बुद्धि के अनुसार जैसा बना वैसा भावार्थ ही कह दिया है। आगे का भाव आगे के प्रकरण में श्रवण करें।"

छप्पय

कुण्डलिनी जो सुप्त करै ताकूँ जाग्रत पुनि।
करिकें प्राणायाम शक्ति संचय करिलें मुनि॥
मूलबन्ध उड्यान बन्ध जालन्धर सुखकर।
करै खेचरी योग सुमुद्रा सब पातकहर॥
बिन्दु करै धारन सतत, जीवन धारन बिन्दु है।
श्वेत शुक्र रज रक्त है, रज रवि शुक्रहु इन्दु है॥

ध्यान बिन्दु-उपनिषद्-सार (३)

(३०३)

कर्णौ सकोचन कृत्वा लिङ्ग सकोचन तथा ।
मूलाधारात्सुषुम्ना च पद्मतन्तु निभा शुभा ॥
अमूर्तो वर्तते नादो वीणादण्ड समुत्थितः ।
शङ्खनादादि भिश्चैव मध्यमेव ध्वनिर्यथा ॥*

(ध्या० बि० उ० १०१–१०२ म०)

छप्पय

अष्ट कमल दल चक्र हिये जहँ जीव बिराजत ।
सुखी दुखी लघु दीर्घ जीव निज भाव बिचारत ॥
आठ दिशनि दल आठ प्रथम रहि भक्ति बढ़ावै ।
दूसर निद्रा होइ तृतिय द्वेषहु उपजावै ॥
चौथे में हिंसा अवहु, है विनोद क्रीड़ा पँचम ।
छटे सात वैराग्य सुख, दान कृपा होवै अठम ॥

शरीर के तीन अग हैं। एक तो शिर, दूसरा गुदा से लेकर कण्ठ पर्यन्त और तीसरे हाथ पेर। इनमें मुख्य रीढ है। शिर से

---

* कानों का तथा लिङ्ग का सकोचन करके मूलाधार से उत्पन्न कमल तन्तु की भाँति शुभा नाडी है उसम अमूर्त (अनाहद) नाद होता है, ऐसा होना है जैसे वीणा के दण्ड से उत्थित नाद। फिर शङ्ख नादों के सदृश मध्यम ध्वनि से नाद होता है।

लेकर गुदा पर्यन्त जीवन का आधार है। हाथ पैरों को काट दें तो मनुष्य जीवित रह सकता है, किन्तु शिर को फाट दें या उदर को काट दें तो जीवन रह नहीं सकता। क्योंकि शिर से लेकर गुदा पर्यन्त ही रीढ़ है। उसी रीढ़ में से सुषुम्ना गयी है, उसी में प्राण हैं। और प्राण ही जीवनाधार हैं। षट् चक्र गुदा से लेकर शिर पर्यन्त ही है। गुदा में चार दल वाला मूलाधार चक्र है, लिंग में छै दल वाला स्वाधिष्ठान चक्र है। नाभि में बारह दल वाला मणिपूरक नाम का चक्र है, इनका वर्णन हो चुका। अब नाभि से ऊपर जो हैं, उनके सम्बंध में सुनिये।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! नाभि से ऊपर हृदय स्थान में एक अष्ट दल कमल है। उसे अनाहद चक्र कहते हैं। उस अष्ट दल कमल के मध्य में रेखा वलय करके जीवात्मा रहता है। वह ज्योति स्वरूप अत्यन्त ही सूक्ष्म है। उसी जीवात्मा में सब कुछ प्रतिष्ठित है। वही सब कुछ जानकारी रखता है। वही सब कुछ कर्ता धर्ता है। वही सब अनुभव करता है। वही यह अनुभव करता है कि मैं कर्ता हूँ, मैं भोक्ता हूँ, मैं सुखी हूँ, मैं दुखी हूँ। मैं काना हूँ मैं गंजा हूँ, मैं बहरा हूँ, मैं गूँगा हूँ। मैं पतला हूँ, मैं मोटा हूँ। इस प्रकार जीवात्मा स्वतन्त्र वाद से वर्तता है।"

अष्टदल कमल जो हृदय में है, जिसमें जीवात्मा वास करता है। उसका प्रथम दल पूर्वदिशा वाला श्वेतवर्ण का है, जब जीवात्मा उस प्रथम दल में विश्राम करता है, उस समय भक्ति पूर्वक मनुष्य की धर्म कार्यों में प्रवृत्ति होती है। दूसरा दल जो अग्निकोण में है, वह रक्तवर्ण का है, जब जीवात्मा इस आग्नेय दूसरे दल में विश्राम करता है, तब जीव की निद्रा तथा आलस्य में मति होती है। तीसरा दल जो दक्षिण दिशा वाला है और जो कृष्णवर्ण का है, जब जीवात्मा उसमें विश्राम करता है, तो उसकी

द्वेष तथा कोप में मति होती है। चौथा दल जो नैर्ऋत दिशा वाला दल है जो नीलवर्ण का है जब जीवात्मा उसमे विश्राम करता है, तब उसकी प्रवृत्ति पाप कर्मों में-हिंसा आदि में मति होती है। पॉचवॉ दल जो पश्चिम दिशा का दल है और जो स्फटिक मणि के वर्ण वाला है, जब जीवात्मा उसमें विश्राम करता है तो उसकी मति क्रीडा विनोदादि में होती है। छटा-दल जो वायव्य कोंण वाला है, जिसका वर्ण माणिक्य के सदृश है, यदि जीवात्मा उसमें विश्राम करता है, तो उसकी मति गमन मे, चलन में तथा वैराग्य में होती है। सातवॉ जो उत्तर दिशा का दल है, जिसका वर्ण पीले रग का है जब जीवात्मा उसमें विश्राम करता हैं, तब उसकी सुख शृङ्गार में मति होती है। आठवॉ जो ईशान कोंण का दल है जिसका वर्ण वैडूर्य के सदृश है, जब जीवात्मा उसमें शयन करता है तो उसका मति दानादि पुण्य कर्मों में तथा कृपा में होती है। जब कमल की सन्धि सन्धियों में जीवात्मा को मति होती है, तब वात, पित्त, कफ सम्बन्धी महाव्याधियों का प्रकोप होता है। जब कमल के मध्य भाग में जीवात्मा बैठता है तब सब कुछ जानता है, गाता है, नृत्य करता हे, पढता है, आनन्द करता है। उस कमल के चारों ओर गोलवलय रूप में तीन रेखायें हैं। जब किसी कारण विशेष से नेत्र श्रम होता है, तो श्रम के निवारणार्थ जीवात्मा प्रथम रेखावलय को करके उसके बीच में स्नान करता है। वह प्रथम रेखा बन्धूक पुष्प के सदृश लाल वर्ण की है। उसमें जीवात्मा के जाने पर निद्रावस्था होती है। निद्रावस्था के मध्य में ही स्वप्नावस्था होती है। स्वप्नावस्था में तो जीवात्मा ने जो जाग्रत अवस्था में देखा है, सुना है, अनुमान किया है उन सभी सम्भव वार्ताओं की कल्पना वह करता है। उस कल्पना से उसे आदि श्रम होता है। तब उस

श्रम के मिटाने के लिये दूसरी रेखावलय को करके उसके मध्य में निमज्जन करता है। उस द्वितीय रेखावलय का वर्ण इन्द्रगोप के सदृश होता है,तब सुपुप्ति अवस्था हो जाती है। सुपुप्ति अवस्था में केवल परमेश्वर सम्बन्धिनी ही बुद्धि होती है। वह बुद्धि नित्य बोध स्वरूपा कही जाती है। इसके पश्चात् परमेश्वर की प्राप्ति होती है।

तदनन्तर जीवात्मा तृतीय रेखावलय को करके उसके मध्यम निमज्जन करता है तो तुरीयावस्था होती है। तीसरी रेखावलय का वर्ण पद्मरागमणि के सदृश होता है। तुरीयावस्था केवल परमात्मा सम्बन्धिनी होती है। नित्य बोध स्वरूपा होती है। उस समय शनैः-शनैः संसार से बुद्धि उपराम को प्राप्त होती है धृति गृहीत हुए मन को आत्मसंस्थ करके कुछ भी चिन्तन नहीं करता, उस समय प्राण और अपान ऐक्य करके समस्त विश्व को आत्म स्वरूप के द्वारा लक्ष्य करके धारण करता है। अर्थात् समस्त विश्व को ब्रह्मस्वरूप देखता है। इस तुरीय अवस्था के अनन्तर भी एक तुरीयातीत अवस्था होती है, उसके सम्बन्ध में तो कहना ही क्या है। उस अवस्था में सभी कुछ आनन्द स्वरूप ही दिखायी देता है। जीवात्मा द्वन्द्वातीत हो जाता है। वह जीव-न्मुक्त हो जाता है, प्रारब्ध कर्मानुसार जब तक शरीर रहता है, तब तक अभिमान शून्य होकर देह को धारण किये रहता है। प्रारब्ध की समाप्ति पर जब देह का अन्त हो जाता है, तब उस जीव को परमात्म स्वरूप की प्राप्ति होती है। इस प्रकरण से मोक्ष की प्राप्ति होती है। इसी का नाम आत्मदर्शन उपाय है। जैसे अष्टदल का हृद् कमल है, उसके ऊपर तीन गोल रेखायें हैं। उन रेखाओं के आगे चतुष्पथ समायुक्त एक महाद्वार है वह त्रिको-णार्ध गवायु के द्वारा स्थित है। अर्थात् तीन रेखायें हैं और उनमें

चारों ओर द्वार हैं वह अच्युत स्थान है। इस त्रिकोण स्थान से भी ऊपर सूक्ष्म जो पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश के आवरण हैं उनका ध्यान करना चाहिये। प्राण, अपान, उदान, समान और व्यान जो पाँच वायु हैं उनके बीजों को, वर्णों को और स्थानों को भी जान लेना चाहिये। जैसे प्राण वायु है इसका बीज यकार है। अर्थात् य बीज। वर्ण इसका नीला है, जैसे जल भरे हुए मेघ का वर्ण होता है। अपान का अग्निबीज रकार है। अर्थात् र बीज है। सूर्य के सदृश तेज युक्त वर्ण है। पृथ्वी रूप जो व्यान है, उसका लकार बीज है और उसका वर्ण बन्धूक-पुष्प के सदृश है। जीव बीज उदान है उसका वकार बीज है और उसका वर्ण शंख के सदृश शुभ्र है। आकाश स्वरूप जो समान वायु है उसका हकार बीज है और स्फटिकमणि के सदृश उसका वर्ण है। यह समान वायु हृदय, नाभि, नासिका, कर्ण, पैर के अँगूठा आदि स्थानों में रहता है। बहत्तर सहस्र जो नाड़ी वर्ग हैं, उन सबमें समान वायु वर्तता है। अष्टाईस करोड़ रोम कूप हैं उनमें भी यही संस्थित रहता है। जैसे सम्पूर्ण शरीर में समान वायु व्याप्त है, वैसे ही जीवात्मा भी सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त है। समान नाम का जो प्राण है, वह जैसे एक ही है, वैसे ही जीव भी एक ही है।

इसलिये रेचक, पूरक तथा कुम्भक तीनों को करके दृढ़चित्त तथा समाहित चित्त होकर शनैः शनैः समस्त प्राणों को आकृष्ट करके हृदय कमल के कटोरे में उन्हें एकत्रित करना चाहिये। प्राण और अपान को बाँधकर—अर्थात् एकत्रित करके प्रणव के साथ उसे मिला दे। फिर कुण्डलिनी को जाग्रत करे। कैसे जाग्रत करे? इसे बताते हैं।

कानों का सकोच करके फिर लिङ्ग का संकोच करे। मूल-

बन्ध, उड्डियान बन्ध और जालन्धर बन्ध इन तीनों बन्धों को बाँधने से कान से लेकर गुदा पर्यन्त समस्त नाड़ी जाल बँध जाता है। सुषुम्ना के मुख को रोककर जो मूलाधार चक्र में कुण्डलिनी शक्ति प्रसुप्त पड़ी हुई है उसे वायु के झटके से गुदा का संकोच करके जगावे। वह सुषुम्ना नाड़ी कमल नाल तन्तु के सदृश अत्यन्त ही सूक्ष्म है। इस प्रकार तीनों बन्ध बाँधने से, दृढ़ पद्मासन से बैठने पर कान तथा लिंग का संकोच करने पर एक अमूर्त अव्यक्त नाद होता है, उसे अनहदनाद कहते हैं। जैसे वीणा बजने पर उसके दण्ड में से जैसा नाद होता है वैसा ही नाद सुनायी देने लगता है, उस नाद पर ध्यान एकत्रित करे। उस नाद को एकाग्रता से सुनते-सुनते बीच में शंखादि के सदृश भी ध्वनि सुनायी देगी। व्योम के रन्ध्र में प्रविष्ट वायु का जैसे नाद होता है, वह मायूर नाद-मोर की वाणी के शब्द के सदृश नाद होता है। कपाल का जो कुहर है, उसके मध्य में चतुर्द्वार है, उसी के बीच में आत्मा सुशोभित होता है। वह ऐसे शोभित होता है जैसे आकाश में सूर्य शोभित होता है। दो कपाल धनुषाकार में जहाँ जुड़े हुए हैं उनके मध्य में ब्रह्मरन्ध्र की शक्ति से स्वात्माराम परमपुरुष परमात्मा को देखे। उनमें जब मन का लय हो जाता है, तब वहाँ एक रत्नों की ज्योत्स्ना के सदृश ज्योतिनाद दिखायी देता है। वही बिन्दु माहेश्वर पद है। उस बिन्दु में ही ध्यान दृढ़ हो जाता है, तो साधक कृत कृत्य हो जाता है। उस पद को जो सम्यक् प्रकार से जान लेता है, वह पुरुष कैवल्य-मुक्ति-पद को प्राप्त कर लेता है। यही ध्यानबिन्दु उपनिषद् है। इसी को ध्यानबिन्दु उपनिषद् कहा गया है।

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! यह मैंने आपसे ध्यानबिन्दु

उपनिषद् कही, अब आप ब्रह्मविद्योपनिषद्-सार श्रवण करने की कृपा करें।"

छप्पय

कर्ण लिङ्ग सकोचि बन्ध बाँधे तीनिनिकूँ।
मूलाधार जु चक्र जगावै तहँ सुख मनकूँ॥
कमल तन्तु सम सूक्ष्म नाद अनहद सुनि पावै।
वीणा दण्ड समान शङ्ख धुनि मध्य सुनावै॥
कुहर कपाल दिखै तहाँ, आत्मा रवि सम नभ दिखत।
होवै मन लय तासु में, पद कैवल्यहिँ नर मिलत॥

इति ध्यानबिन्दु-उपनिषद् सार
समाप्त

[२०४]

प्रसादात् ब्रह्मणस्तस्य विष्णोरद्भुतकर्मणः।
रहस्य ब्रह्मविद्याया ध्रुवाग्निं स प्रचक्षते॥*
(ब्र० वि० उ० १ म०)

छप्पय

विष्णु कृपा तें कहूँ ब्रह्मविद्याहु उपनिषद।
महिमा तामें प्रणव हंस जपिवेकी विधि सब॥
नाद अनाहद सुनै मृत्यु विजयी बनि जावै।
गायत्री नित जपै हंस अजपा कहलावै॥
हंस विष्णु, अज, महेश्वर, हंस विश्व में व्याप्त है।
हंस एक ही सार है, यह सिद्धान्त सु-आप्त है॥

हंस, सोऽहं, ओअं, ओम्, राम ये सब एक ही मन्त्र हैं। दो को एक में मिला देने का ही नाम योग है। जब तक द्वित्व है। दो हैं तब तक व्यवहार है। दोनों मिलकर योग से जहाँ एकत्व को प्राप्त हो जाते हैं, उसी स्थिति का नाम व्यवहार शून्यता है। हृञ् हरणे धातु से वि और अव उपसर्ग लगाने से व्यवहार शब्द बनता है। यह शब्द विवाद के अर्थ में, न्याय, पण, स्थिति,

---

* उन अद्भुत कर्मा परब्रह्म श्रीविष्णु भगवान् की कृपा से ध्रुवाग्नि ब्रह्मविद्या के रहस्य को अब कहते हैं।

कर्म क्रिया आदि अर्थों में भी व्यवहृत होता है। वास्तव में देखा जाय तो सभी प्राणी एक ही समान हैं एक ही समान खाते-पीते, उठते-बैठते तथा बोलते चालते हैं। कौन मित्र है कौन शत्रु है यह तो व्यवहार से ही जाना जाता है। स्मृतियों में, नीति शास्त्रों मे व्यवहार कैसा करना चाहिये इन्हीं सबका वर्णन है। व्यावहारिक वर्तना, व्यवहार को शुद्ध रखना या बिगाड़ देना यही सांसारिकता है। जो व्यवहार से परे हो जाते हैं, वे या तो संसार में मूर्ख कहलाते हैं या गुणातीत लोग व्यवहार रहित होते हैं। दो के बीच मे व्यवहार वर्ता जाता है। अपने से व्यावहारिकता वर्तने का अवसर ही नहीं। और विद्यायें व्यावहारिक विद्यायें हैं। एकमात्र ब्रह्म विद्या ही अव्यवहारिक विद्या है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! अब आप ब्रह्मविद्या उपनिषद् के सार को श्रवण कीजिये। भगवान् की कृपा से इस विद्या का कथन हो सकता है। पहिले तो इसी बात पर विचार करो कि ब्रह्म क्या है? प्रणव या ओंकार इसी को ब्रह्मवादी महर्षिगण ब्रह्म कहते हैं। यह प्रणव तो चैतन्य है। इसका शरीर क्या है इस कहते हैं। प्रणव में अ, उ और म ये तीन अक्षर हैं। ये तीन भूत, भविष्य, वर्तमान तीनों कालो के, ब्रह्मा, विष्णु, महेश्वर तीनो देवों के, तीनों वेदों, तीनो अग्नियों, तीनों लोकों आदि के प्रतीक हैं। ऋक् वेद गार्हपत्य अग्नि, भूलोक तथा ब्रह्माजी ये सब प्रणव के अकार के शरीर हैं। यजुर्वेद, अन्तरिक्ष लोक, दक्षिणाग्नि तथा विष्णुदेव ये उकार की देह हैं। सामवेद, स्वर्गलोक, आहवनीय अग्नि, तथा महेश्वर ये प्रणव के मकार के शरीर हैं। अकार सूर्यमंडल में शख मध्य में स्थित है। उकार चन्द्रमण्डल सकाश में स्थित है, मकार अग्निलोक में विधूम होकर विद्युत की भाँति स्थित है। अ, उ और म ये तीनों सोम, सूर्य और अग्नि

स्वरूप हैं। प्रणव के ऊपर जो अर्ध मात्रा है, वह दीपक के जैसे शिखा ऊपर होती है वैसे वह ऊपर रहती है। कमलनाल तन्तु से भी सूक्ष्म वह शिखारूपा परानाड़ी है, वह सूर्य के संकास में स्थित है। सूर्य मंडल को भेदन करने वाली अपरानाड़ी है। बहत्तर सहस्र नाड़ियों का भेदन करके, सबके ऊपर सबके सिर पर सब प्राणियों को अभय का वरदान देने वाली होकर रहती है। जैसे कांसे के घंटे का निनाद बजने के अनन्तर शान्ति में जाकर लीन हो जाता है, वैसे ही ओंकार की ध्वनि भी अन्त में शान्ति में जाकर विलीन हो जाती है। ओंकार शब्द भी जहाँ जाकर विलीन हो जाता है उसी को परब्रह्म कहते हैं। जिसकी बुद्धि उस परब्रह्म में लीन हो जाती है, वह अमृतत्व को प्राप्त कर लेता है। वायु, प्राण तथा आकाश इस प्रकार तीन जीव की संज्ञा कही हैं। वही जीव प्राण कहलाता है। बाल के अग्रभाग को काट लो उसके भी सौ भाग करलो वैसा सूक्ष्मातिसूक्ष्म जीव है। नाभिस्थान में विश्वात्मा अत्यन्त निर्मल जो शुद्ध तत्त्व है वह स्थित है, वह सूर्य के सदृश चमकता है। उसकी रश्मियाँ-किरणें सम्पूर्ण कल्याणकारी हैं।

देखिये, हंस एक परम मन्त्र है। इसमें सकार और हकार दो शब्द हैं। इस दो शब्द वाले मन्त्र को जीव सदा सर्वदा जपता रहता है। यह मन्त्र विषय व्याप्ति से वर्जित है, नाभि के रन्ध्र से निकलने वाला है, उसमें से यह निष्कल विद्या निकली है, जैसे दूध के मथने पर घृत निकल आता है। कारण जो आत्मा है उससे युक्त होकर पंचप्राणों के आयाम से चारों कलाओं से समायुक्त होकर हृदय में स्थित होकर जीव को भ्रमाता रहता है। देह में जो गोलक है उसे क्षीर दण्ड से ताड़ित किया जाय तब उसमें से घृत रूप सार निकलेगा।

इस शरीर में शीघ्र ही अविश्रान्त जीवरूप महापक्षी निवास करता है। जब तक यह जीव श्वास लेता है तब तक निष्कल बना रहता है। किन्तु शरीर बन्धन में बँधा रहता है। एक अशरीरी आकाश में रहने वाला भी निष्कल ब्रह्म है। जब यह देहस्थ निष्कल उस आकाशस्थ निष्कल का ध्यान करता है तब सदा सदा के लिये भवबन्धन से छूट जाता है। हृदय में एक अनाहत ध्वनि हंस हंस इस प्रकार की होती रहती है। वही स्वप्रकाश चिदानन्द स्वरूप हंस कहलाता है। उसका अनुभव केसे हो? प्राणायाम तीन प्रकार का होता है रेचक, पूरक कुंभक। तो रेचक और पूरक दोनो का तो परित्याग कर दे। विज्ञ पुरुष केवल कुंभक में ही स्थित हो जाय। नाभि स्थान में एक कन्द है उसमें प्राण और अपान को सम करके फिर मस्तक से जो निरन्तर अमृत बिन्दु गिरते रहते हैं, उन्हें आदर के साथ ध्यान से पान करे। नाभि के मध्यभाग मे एक महादेव स्थित हैं, वे दीप के सदृश प्रज्वलित हो रहे हैं। उनका अमृत बिन्दुओं से अभिसिंचन करे। फिर हंस हंस जो यह महामन्त्र है, इसका जप करे। इस प्रकार केवल कुंभक करके हंस हंस इस महामन्त्र का मन से जप करता रहता है, वह वृद्धावस्था, मृत्यु तथा समस्त रोगों से विमुक्त हो जाता है। इस हंस रूपा अजपा गायत्री का जो प्रति दिन नियमित जप करता है। उसे अणिमा महिमा आदि समस्त सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं। उसे ईश्वरत्व की भी प्राप्ति होती है जो इसके अभ्यास में निरन्तर रहता है। इस मार्ग द्वारा बहुत से साधक नित्यत्व को प्राप्त हो चुके हैं। इस हंस विद्या को छोड़कर लोक में नित्यत्व प्राप्ति का दूसरा कोई साधन है ही नहीं। जो इस परमेश्वरी हंस नाम वाली महाविद्या को दे, उस महापुरुष दासत्व पराबुद्धि से सदा करते रहना चाहिये। शिष्य को

कि गुरुदेव शुभ, अशुभ या दूसरी कैसी-भी आज्ञा दें उसे परम सन्तोष संयुक्त होकर अवश्य ही पालन करना चाहिये, जो गुरु सुश्रूषु पुरुष इस हंसविद्या को प्राप्त कर लेगा, तो इसे प्राप्त करके आत्मा द्वारा आत्मसाक्षात्कार कर लेगा। वह निश्चय ही ब्रह्म को जानकर देह के सम्बन्धों से विनिर्मुक्त हो जायगा। देह से उत्पन्न जितने भी सम्बन्ध हैं जैसे वर्ण, आश्रम, वेद, शास्त्रादि इन सबको ब्रह्मवेत्ता पैर की धूलि के समान त्याग दे। जिसे अपने कल्याण की कामना हो, वह गुरुभक्ति को सदा करता रहे। श्रुति बार-बार कहती है गुरु ही हरि हैं। श्रुति जो कहती है, वही सब परमार्थ है, इसमें किसी प्रकार का संशय नहीं है। श्रुति के जो विरुद्ध है, वह प्रमाण नहीं माना जा सकता। जो अप्रामाणिक बात हैं वह तो अनर्थकारी होती है। देह में जो स्थित है उसे तो सकल जानना चाहिये। जो देह वर्जित तत्त्व है वही निष्कल है। वह निष्कल आप्तपुरुषों के उपदेश द्वारा ही जाना जा सकता है, तभी उसकी सबमें सर्वदृष्टि हो जायगी। हंस हंस का जो जप करता है वह परमपद को प्राप्त होता है क्योंकि ब्रह्मा, विष्णु तथा शिव यह हंस मन्त्र ही हैं। गुरु के मुख द्वारा इस सर्वतोमुख प्रत्यक्ष मन्त्र को प्राप्त करे। यह मन्त्र पुरुष के भीतर बाहर इस प्रकार रम रहा है जैसे तिलों में तैल और पुष्पों में गन्ध रमी रहती है। जैसे लोक में द्रव्य को प्राप्त करके उसके रखने की वस्तु को छोड़ देते हैं वैसे ही ज्ञान के द्वारा ज्ञेय को देखकर ज्ञान को भी छोड़ दे। पुष्प सकल है, उसकी गन्ध निष्कल है, उसी प्रकार वृक्ष सकल है उसकी छाया निष्कल है। इसी भाँति सकल तथा निष्कलभाव सर्वत्र ही व्यवस्थित है। जैसे उपाय तो सकल है उसका उपेय पदार्थ निष्कल है। सकल में सकल भाव होता है, निष्कल में निष्कल

भाव। देखो, ओंकार में एक मात्रा, दो मात्रा तथा तीन मात्रायें हैं। अर्धमात्रा ँ जो अर्धचन्द्र बिन्दु ऊपर है वही परात्पर पराविद्या है।

ये जो पाँच देवता हैं ये सब सकल हैं। कलायुक्त हैं। वे पाँच देव कौन-कौन हैं ? (१) हृदय स्थान में ब्रह्मा, (२) कण्ठ में विष्णु, (३) तालु मध्य में रुद्र, (४) ललाट में महेश्वर और (५) नासिका के अग्रभाग में अच्युत। इन पाँचों के अन्त में जो है वही परमपद है। इस परमतत्त्व से पर कोई भी तत्त्व नहीं है, ऐसा समस्त शास्त्रों का निर्णय है। नासिका के अग्रभाग से बारह अंगुल पर देह से अतीत परम पद है। उसे ही सबका अन्तिम जानना चाहिये वही वह प्रभु व्याप्त है।

अभ्यास करने पर मन अन्यत्र निक्षिप्त रहे, चक्षु अन्यत्र पतित रहें तो भी योगियों का योग अविच्छिन्न चलता रहता है। क्योंकि वे इन्द्रियों से तथा मन से ऊपर उठ जाते हैं। यह परम-गुह्य परमशुभ रहस्य है, इससे परतर तथा इससे पवित्र कुछ भी नही है। शुद्ध ज्ञान रूप अमृत को प्राप्त करके परमाक्षर का निर्णय करना चाहिये। यह गुह्य से भी गुह्य गोप्य से भी गोप्य है. इसे प्रयत्नपूर्वक ग्रहण करना चाहिये।

इस विद्या को सब किसी को नहीं देना चाहिये। आज्ञाकारी भक्त पुत्र का, विनीत तथा गुरु में ईश्वर भाव रखने वाले शिष्य को जो नित्य ही भक्ति परायण हो, उन्हें ही देना चाहिये। जो अपात्र को इस विद्या को देता है वह देने वाला तो नरक मे जाता है और जिस अपात्र को यह विद्या दी है उसे सिद्धि प्राप्त नहीं होती। इस विद्या को जानने वाला गृहस्थ, ब्रह्मचारी, वान-प्रस्थ अथवा सन्यासी कोई भी क्यों न हो, किसी भी आश्रम में स्थित क्यों न हो वह ज्ञानी परमाक्षर विद् ही बना रहता है।

विषयी विषयासक्त भी हो तो वह देहान्तर में शुभ हो जाता है। यदि यह विद्या मरते समय भी प्राप्त हो जाय तो कैसा भी पापी क्यों न हो, उसका कल्याण हो जाता है। ऐसा ब्रह्मवेत्ता ब्रह्महत्यादि पापों से, अश्वमेधादि यज्ञों के पुण्यों से लिप्त नहीं होता। वह पाप पुण्यों से ऊपर उठ जाता है। इस विद्या के प्रेरणा करने वाले चोदक, बोधक और मोक्षद तीन प्रकार के आचार्य होते हैं। चोदक तो मार्ग दर्शन कराता है, बोधक स्थान का स्वयं आचरण करके बोध कराता है और मोक्षद सबसे परे है, वह परमतत्व को जानकर परम ही हो जाता है। हे गौतम! अब तुम संक्षेप में प्रत्यक्ष देह यजन को श्रवण करो।

जिस पुरुष ने प्रत्यक्ष यजन कर लिया है वह पुरुष अव्यय शाश्वत पद को प्राप्त कर लेता है। देह में जो निष्कल विन्दु है उसे वह स्वयं ही देख लेता है। दक्षिणायन और उत्तरायण दोनों अयनों में विपुत्र में-मार्ग को जानने वाला सदा उस निष्कल बिंदु को देखता है। पहिले रेचक, पूरक और कुम्भक दोनों प्राणायामों को करके फिर हंस इन दोनों शब्दों को उच्चारण करके क्रम पूर्वक इनकी अर्चना करनी चाहिये। नमस्कार के योग से मुद्रा से आरम्भ करके अर्चना करनी चाहिये। सूर्य के ग्रहण में प्रत्यक्ष यजन बताया है। सायुज्य मुक्ति ज्ञान से होती है। जैसे पानी में पानी मिलकर एक हो जाता है। जिन्होंने योगाभ्यास में परिश्रम किया है उनके ही हृदय में ये गुण उत्पन्न होते हैं। इसलिये योग को ग्रहण करने से समस्त दुःखों का बहिष्कार हो जाता है। योगध्यान को सदा करने से ज्ञान की प्राप्ति होगी और ज्ञान से तन्मयता प्राप्त होगी। इसलिये यह जो परम मन्त्र 'हंस' है इसका उच्चारण करना चाहिये। यह अच्युत हंस समस्त प्राणियों के देह मध्य में सदा स्थित रहता है। हंस यह

ही परम मन्त्र है। हस ही परमशक्ति है। हस ही वाक्य वादी है। पररुद्र, परात्पर, सर्वदेव में मध्यस्थ, महेश्वर, पृथ्वी आदि शिवान्त देव, अकारादि समस्त वर्ण, कूटात शब्द ये सब हस ही हैं मातृका व्यवस्थित मन्त्र ही आदेश उपदेश करना चाहिये। मातृका रहित मन्त्र का कभी भी उपदेश न करे। हस मन्त्र की ज्योति अनुपम है, देव के मध्य मे व्यस्थित है। दक्षिणामुख का आश्रय लेकर ज्ञान मुद्रा का कल्पना करनी चाहिये। हस मन्त्र का अनुस्मरण करते हुए सदा समाधि करनी चाहिये। उस समय ऐसा स्मरण करके कि हम रूप भगवान् दिव्य निर्मल स्फटिक के आकार के दिव्य रूप वाले हैं। शरीर के मध्य देश में ज्ञान मुद्रात्म रूप पर हस अवस्थित हैं।

प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान ये पाँच प्राण पाँच कर्मेन्द्रियों से युक्त क्रियाशक्ति के बल से उद्यत हैं और नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त और धनञ्जय ये पाँच ज्ञानइन्द्रियों से युक्त ज्ञान शक्ति के बल से उद्यत हैं। शक्ति के मध्य में तो पावक है और नाभि चक्र में रवि स्थित हैं। जिस साधक ने बन्धों को मुद्राओं को कर लिया है और नासिका के अग्रभाग में अवलोकन का, तथा अपने नेत्रों में त्राटक का अभ्यास कर लिया वही योग को प्राप्त कर सकता है।

प्रणव ओंकार ही ब्रह्म है, वही सर्वत्र व्याप्त है, इस बात को बताते हैं। ओंकार में जो अ, उ और म् ये तीन अक्षर हैं इनमें से अकार तो वन्हि स्वरूप है, वह वन्हि स्थान में स्थित है और मकार दोनों भौंहों के मध्य मे स्थित होकर प्राण शक्ति को प्रबोधित करता है। अकार ब्रह्म ग्रन्थि है, उकार विष्णु ग्रन्थि है और वह हृदय में विराजमान है। मकार रुद्र ग्रन्थि है और वह

भौहों के मध्य में स्थित है। यह अक्षर वायु से विभेद को प्राप्त होता है।

अकार में ब्रह्माजी संस्थित हैं, उकार विष्णु के आश्रित है। मकार में रुद्र भगवान् संस्थित हैं। इनके अन्त में परात्पर परब्रह्म हैं।

कंठ को संकुचित करके इसके द्वारा आदि नाड़ी–सुषुम्ना इसकी शक्ति से संकुचित हो जाती है। रसना को पीड्यमान करके यह शोडशी कला से युक्त होकर ऊर्ध्वगामिनी हो जाय। अर्थात् खेचरीमुद्रा करके त्रिकुटी तीन प्रकार की है। (१) गोलाख (२) निखर, और (३) त्रिशङ्ख वज्र यही ओंकार स्वरूप है, स्वभावतः तो भौहों के मध्य में जो द्विदल चक्र है वह अधोनाल होता है। किन्तु ध्यानावस्था में वह ऊर्ध्वनाल करके ध्यान किया जाता है, यह त्रिकुटी अवस्था दोनों भौहों के बीच में भ्रूवोमुख है। यहाँ कण्ठ को भींचकर कुण्डलिनी को चलाना चाहिये। शशि मण्डल में प्राणों का भेदन करना चाहिये। यह कैसे भेदन होगा। न तो पूरक करे, न रेचक करे, वज्र कुम्भक करे। अर्थात् प्राणों को भीतर ही भीतर रोक ले। किन्तु सावधान रहे कि वायु ऊपर के सात छेदों से अथवा नीचे के दो छेदों से निकलने न पावे। इसलिये नौओं द्वारों को बाँध ले। सुमन तो पवनारूढ़ है और सराग निर्गुण ब्रह्म है, ब्रह्मस्थान जो नाभि देश है वही नाद है। वहाँ अमृत की वर्षा करने वाली माकिनी शक्ति है। वह षट्चक्र मण्डल का उद्धार करके ज्ञान दीप को प्रकाशित करती है। वहाँ पर जो सर्वभूत स्थित सर्वेश नित्य देव हैं, उनकी पूजा करनी चाहिये। उन्हें अपनी आत्मा का ही रूप देखना चाहिये। वे ज्ञान रूप हैं, निरामय हैं, वे निरञ्जन सर्वव्यापी दिव्य रूप से दीखते हैं। यहाँ पर 'हंस

हस' यह वाक्य प्राणियों के देह को आश्रय करके होता रहता है प्राण और अपान की ग्रन्थि ही अजपा जाप कहलाती है। अर्थात् 'ह' से बाहर प्राण जाता है और सः से फिर भीतर आता है। इन प्राण और अपान का ग्रन्थि से ही हसः हसः यह अजपा जाप होता रहता है। दिन रात्रि में इक्कीस सहस्र छे सौ साँस चलती हैं उतने ही मन्त्र का जप होता रहता है। जेसे मरा मरा बार बार जपने से राम राम हो जाता है। वैसे ही हसः हसः कहने से सोहं सोहं हो जाता है। दानों भौंहों के मध्य मे एक ज्योतिर्लिङ्ग है। वह लिंग पूर्व भाग में तो अधोमुखी है और पश्चिम शिखायुक्त है। यति को चाहिये ऐसी ज्योतिर्लिङ्ग का नित्य ही ध्यान करना चाहिये।

ऐसी चिन्तना करे कि मैं जार नहीं अच्युत हूँ। मैं अचिन्त्य हू। मैं अतर्क्य, अज, सप्राण,अकाय, अनङ्ग, अभय, शब्द, रूप, रस गन्ध से रहित अद्वादि, अमृत, अक्षय, अलिंग, अजर, अकल, अप्राण, अमूक, अर्थात् समस्त प्रपञ्च से परे हूँ। सब गुणों से, काल से रहित हूँ।

मैं आनन्द स्वरूप, आत्म चैतन्य स्वरूप हूँ। मैं केवल कवि, कर्माध्यक्ष, करणाधिप, निरबध, निष्क्रिय, निरञ्जन, निर्मल, निर्विकार, द्वैत, अद्वैत से वर्जित, सच्चिदानन्द मात्र हूँ। मैं सर्व-द्रष्टा सर्वानुभू हूँ। जो इस तत्त्व को जान लेता है वास्तव में वही पुरुष है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! यह मेंने आप से ब्रह्मविद्या उपनिषद् का सार कहा, अब आप योगतत्त्व उपनिषद् का सार श्रवण करें।"

—०—

छप्पय

हंस हंस जो जपै अन्त सोऽहं ह्वै जावै।
मैं ही हूँ सरवस्व ध्यान में जाई ध्यावै॥
मैं सब गुन तैं परे देश अरु काल रहित हूँ।
मैं ही निर्गुन निराकार निर्लेप बिदित हूँ॥
मैं चैतन्य स्वरूप हूँ, नित्य निरंजन निरामय।
मै ही सतचित रूप हूँ, मैं अच्युत आनन्दमय॥

इति ब्रह्मविद्या उपनिषद् सार समाप्त

योगतत्त्व-उपनिषद्-सार (१)

[३०५]

योगतत्त्वं प्रवक्ष्यामि योगिनांहित काम्यया ।
यच्छ्रुत्वा च पठित्वा च सर्व पापैः प्रमुच्यते ॥*
(यो० त० उ० १ म०)

छप्पय

योगतत्त्व उपनिषद्-सार अब योग सुनाऊँ ।
मन्त्र योग लय योग और हठ योग बताऊँ ॥
मन्त्र जाप तैं सिद्धि होइ मन लय हु जासु में ।
हठ युत करिकें योग अंग हैं आठ तासु में ॥
नियम और यम आसनहु, प्राणायाम प्रतार हू ।
करै धारणा ध्यान पुनि, तब ही होइ समाधि हू ॥

योग के सम्बन्ध की विभिन्न ऋषियों द्वारा कही हुई बहुत सी उपनिषदें हैं, उन सबमें कुछ हेर फेर के साथ प्रायः एक-सी ही बातें हैं। जैसे किसी महापुरुष के अनेक लेखकों ने जीवन चरित लिखे हों, तो उनमें कुछ घटनाओं के हेर फेर से प्रायः एक-सी ही बातें होंगी। किसी पुण्य तीर्थ की यात्रा के वृत्तान्त बहुत से लेखकों ने लिखे हों, तो कुछ वर्णनों को छोड़कर स्थान

---

* अब मैं योगियों के हित की कामना के लिये योगतत्त्व को कहता हूँ जिस तत्त्व को सुनकर तथा पढ़कर पुरुष सभी प्रकार के पापों से सदा-सदा के लिये छूट जाता है ।

सम्बन्धी सभी बातें एक सी ही होंगी। इसी प्रकार योग के यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि ये आठ अङ्ग हैं। सभी योग सम्बंधी उपनिषदों में किसी न किसी रूप मे उनका वर्णन आवेगा ही। किसी ने किसी मार्ग पर विशेष बल दिया है, किसी ने किसी मार्ग का सर्वश्रेष्ठ निरूपण किया है। सबका अन्तिम उद्देश्य बिखरी हुई। चित्त की वृत्तियों को किसी एक में लगा देना ही है। अन्य योग की उपनिषदों के सदृश ही *योगतत्त्वोपनिषद् में व्यवहारिक रूप में सरलता से* योग का वर्णन किया गया है—

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! योग तत्त्वोपनिषद् का सहनावबतु यह शान्ति पाठ है। *यह है तो लगभग १४२ मन्त्रों की* छोटी-सी ही उपनिषद् है, किन्तु बहुत ही महत्त्वपूर्ण है, इसे भगवान् विष्णु ने लोक पितामह ब्रह्मांजी से कहा है। एक बार ब्रह्माजी महायोगी भगवान् विष्णु के समीप गये। उन्होंने भगवान् को प्रणाम करके कहा—"भगवन्! मुझे अष्टाङ्ग सहित योगतत्त्व को समझाइये।"

ब्रह्माजी की बात सुनकर हृषीकेश भगवान् विष्णु उनसे बोले—"देखो, ब्रह्माजी! सभी संसारी जीव दुःख सुख रूप माया के जाल में फँसे हुए हैं। उन्हें इस जाल से छुड़ाने वाला माया के जाल को काटने वाला, जन्म, मृत्यु, जरा और व्याधियों को नाश करने वाला, मृत्यु से बचाने वाला और मोक्ष करने वाला यह योग मार्ग है। कैवल्य परमपद नाना मार्गों से दुष्प्राप्य है। अन्य मार्गों में बुद्धि शास्त्र जालों में विमोहित हो जाती है। यह जो मुक्ति का मार्ग है वह अनिर्वाच्य मार्ग है। इसे कहने में देवता भी समर्थ नहीं हैं। देखो, भैया! यह तो स्वानुभव स्वरूप स्वात्मप्रकाश रूप मार्ग है, यह शास्त्रों द्वारा भला, भली-भाँति कैसे

प्रकाशित किया जा सकता है ? वास्तव मे देखा जाय, तो यह पुरुष निष्कल है, निर्मल, शान्त, सर्वातीत तथा निरामय है । ऐसा होकर भी यह जीव रूप होने पर पुण्य पाप के फलों से लिपायमान हो जाता है । वास्तव में तो यह परमात्मपद वाच्य नित्य है, यह जीव भाव को कैसे प्राप्त हो गया ?"

यह सर्वभाव पदातीत, निरंजन तथा ज्ञानरूप है । जैसे जल में वायु से स्फुरण होता है, तरगें उठने लगतो हैं, इसी प्रकार इस देह में अहङ्कार चैतन्य की अहङ्कृति उठने से यह जीवता को प्राप्त हो जाता है । यह शरार पचभूतों का पिंड है, सप्त धातुओं से और तीनों गुणों से बँधा हुआ है । दुःख सुख से समायुक्त है इसी के कारण इसमें जीव भाव आ जाता है । इसी से जीव सज्ञा हो जाती है । वास्तव मे देखा जाय, तो यह विशुद्ध परमात्म तत्त्व ही है ।

जब यह देह में अहंकृति के कारण जीव भाव को प्राप्त हो जाता है, तब इसमें काम, क्रोध, भय, मोह, लोभ, मद, रज, जन्म, मृत्यु, कृपणता, शोक, तन्द्रा, क्षुधा, पिपासा, तृष्णा, लज्जा, भय, दुःख, विषाद तथा हर्ष आदि भावों का प्रादुर्भाव हो जाता है । यदि इन सब दोषों से यह विनिर्मुक्त हो जाय तो वही जीव 'केवल' परब्रह्म स्वरूप हो जाता है । ये दोष जीव के कैसे छूटें, इसी का मैं तुम्हें उपाय बताता हूँ ।

वास्तव में मुक्ति ज्ञान से होती है, किन्तु योग से हीन ज्ञान से मुक्ति कैसे हो सकती है ? और योग भी यदि ज्ञान से हीन हो तो मोक्ष कर्म में कैसे सक्षम हो सकता है । इसलिये मुमुक्षु को चाहिये कि योग और ज्ञान दोनो का ही दृढ़ता के साथ अभ्यास करे । वास्तव में यह ससार है क्या ? अज्ञान का ही नाम ससार है । ज्ञान होने पर जीव का ससार बन्धन कट जाता है, वह मुक्त

हो जाता है। तो सबसे पहिले ज्ञान को ही सुनो। ज्ञेय जो पदार्थ है, वह जिसके द्वारा जाना जाय उसी का नाम ज्ञान है। ज्ञान के द्वारा जिसने अपना परमपद, कैवल्य, निष्कल, निर्मल रूप जान लिया है, जो यह समझ गया है, कि मैं जीव नहीं हूँ। मैं उत्पत्ति, स्थिति, संहार स्फूर्ति ज्ञान विवर्जित हूँ, मैं साक्षात् सच्चिदानन्द स्वरूप हूँ, वह जीवत्व से छूट जाता है। जिसके द्वारा ऐसा बोध हो जाय, वही ज्ञान है। यह मैंने तुम्हें संक्षेप में ज्ञान की परिभाषा बता दी। अब योग के सम्बन्ध में भी सुनो।

वास्तव में देखा जाय, तो योग तो एक ही वस्तु है। जीव का परमात्मा के साथ संयोग होना, किन्तु व्यवहार के कारण योग के अनेक भेद हो जाते हैं। जैसे मन्त्र द्वारा योग करने से मन्त्र-योग, लय द्वारा करने से लययोग, हठ द्वारा करने से हठयोग। इसी प्रकार व्यवहार से योग के भिन्न-भिन्न नाम हो जाते हैं। योग की आरम्भ, घट, परिचय और निष्पत्ति ये अवस्थायें सर्वत्र बतायी गयी हैं। इन सबके संक्षेप में लक्षण बताते हैं। अच्छा, पहिले मन्त्रयोग के ही लक्षण सुनो।

१—मन्त्रयोग—मातृकादि से युक्त जो भी मन्त्र हो, उस मंत्र को बारह वर्षों तक जपता ही रहे। तो केवल मन्त्र जप से ही अणिमा महिमा आदि सिद्धियों सहित उसे ज्ञान की प्राप्ति हो जाती है। जो अधम कोटि के अल्प बुद्धि वाले साधक हैं, उनके लिये यह मन्त्रयोग साधन सेवन करने योग्य है। अब लययोग के लक्षण सुनो।

२—लययोग—लययोग उसका नाम है, कि ध्यान के द्वारा चित्त को परमात्मा में लय कर देना। इसके करोड़ों प्रकार हैं। जिस किसी भी साधन से परमात्मा में चित्त को लीन कर दिया जाय। चलते हुए, बैठे हुए, सोते हुए, खाते हुए सर्वावस्था में उस

निष्कल ईश्वर का ध्यान निरन्तर बना रहे। चित्त उसी में लवलीन रहे इसी का नाम लययोग है। अब हठयोग के सम्बन्ध में भी सुनो।

३—हठयोग—हठयोग आठ प्रकार का बताया है। १-यम, २-नियम, ३-आसन, ४ प्राणायाम, ५-प्रत्याहार, ६-धारणा, ७-भ्रूमध्य में हरि का ध्यान और ८-समतावस्था अर्थात् समाधि। इसी का नाम साष्टाङ्ग योग है। इनके साथ महामुद्रा, महाबन्ध, महावेध, खेचरी, जालन्धर, उड्डियान और मूल ये तीन बन्ध, दीर्घ प्रणव सधान, सिद्धान्त श्रवण और वज्रोली, चामरोली, सहजोली ये तीन प्रकार की कही गयीं हैं। अब इन सबके भी सक्षेप में क्रमशः लक्षणों को सुनो।

१-यम—किसे कहते हैं? वैसे तो अनेक स्थानों में यम अनेक प्रकार के बताये हैं, किन्तु यम मुख्य रूप से एक ही प्रकार का है। लघ्वाहार। आहार अल्प अति सूक्ष्म करे।

२-नियम—अहिंसा यही एक मुख्य नियम है।

३-आसन—आसन भी बहुत हैं, किन्तु उनमें १-सिद्धासन, २-पद्मासन, ३-सिंहासन, और ४-भद्रासन ये चार बैठने के मुख्य आसन हैं। यम नियम तो सर्वदा पालनीय ही हैं। योग का आरम्भ आसनों से ही होता है। आरम्भ में बहुत से विघ्न आते हैं। अभ्यास काल में सबसे पहिला विघ्न तो आलस्य है, बकवाद कत्थन, यह दूसरा विघ्न है। धूर्त खल पुरुषों की सगति तीसरा विघ्न है। भाँति भाँति के क्षुद्र मन्त्रों को श्मशान में जाकर सिद्ध करना यह भी योग का विघ्न है। धन की इच्छा, स्त्री प्रसग, इन्द्रिय लोलुपता ये सब मृग तृष्णामय विघ्न हैं। साधक को चाहिये इन सबको जानकर पुण्य प्रभाव से इन विघ्नों को त्याग दे। आसन के पश्चात् प्राणायाम करे।

४-प्राणायाम—पद्मासन से बैठकर स्वस्थ चित्त होकर प्राणायाम का अभ्यास करे। प्राणायाम के निमित्त एक सुशोभन मठ बनाकर उसमें प्राणायाम का अभ्यास करे! मठ का द्वार सूक्ष्म हो, उसमें छिद्र न हों। सुन्दरता के साथ गौ के गोबर से लीपा गया हो। अथवा सफेद चूना से प्रयत्न पूर्वक पोता गया हो। उसमें मक्खी, मच्छर, खटमल तथा कीड़े मकोड़े न हों। नित्य प्रति उसमें झाड़ू लगायी जाय, जल का छिड़काव किया जाय। गूगल आदि की धूप से सुवासित किया जाय। फिर उसमें प्राणायाम करने के लिये आसन बिछावे। आसन न तो बहुत ऊँचा ही हो न बहुत नीचा ही हो। सम भूमि पर आसन बिछावे। सबसे नीचे कुशासन बिछावे, उसके ऊपर काले मृग की मृगछाला बिछावे और मृगछाला के ऊपर सूती या ऊनी वस्त्र का आसन बिछावे। उस आसन पर मेधावी साधक पद्मासन से बैठ जाय। शरीर को सीधा करके सरलता से रखे। हाथ जोड़कर इष्ट देवता को प्रणाम करे। फिर दायें हाथ के अंगूठा से पिंगला नाड़ी का निरोध करके इड़ा के द्वारा पेट में पूरक के द्वारा वायु को शनैः-शनैः पूरित करे अर्थात् बाहर से स्वास खींचकर भीतर वायु को भरे। जितनी वायु भर सके, उतनी भरकर फिर कुम्भक करे, अर्थात् उस वायु को भीतर रोके। फिर पिंगला नाड़ी से शनैः-शनै वायु को रेचन करे। अर्थात् वायु को भीतर से बाहर निकाल दे। वेग से एक साथ शीघ्रता से नहीं निकाले। फिर पिंगला द्वारा पूरक करके शनैः शनैः उदर को वायु से पूर्ण कर ले। अविरोध मे धारण करे और निकाले। जिस नाड़ी से वायु भरे तो उसमे न निकाला करे। जिससे निकाले उसी से न भरे। अविरोध मे वायु को भरना चाहिये। इड़ा से वायु शनैः-शनैः सोलह मात्रा तक भरता रहे। अर्थात् पूरक सोलह मात्रा तक

करे। फिर जब वायु पेट में कुम्भ-घड़ा की भाँति भर जाय तो उसे चौसठ मात्रा समय तक रोके रहे अर्थात् कुम्भक को चौसठ मात्रा समय तक करे। फिर भीतर की वायु को शनैः-शनैः पिंगला नाडी से बत्तीस मात्रा समय मे रेचन करे। अर्थात् रेचक प्राणायाम बत्तीस मात्रा समय तक करे। अब प्रश्न यह है, कि मात्रा का समय कितना होता है ? मात्रा का प्रमाण बताते हैं।

अपनी जानु के चारों ओर न बहुत वेग के साथ, न बहुत शनैः शनैः ही साधारण रीति से चुटकी बजाते हुए जितनी देर मे घुमावे उतने काल को मात्रा कहते हैं। अर्थात् पूरक जितने समय तक करे उसके चौगुने समय तक कुम्भक करे और दुगुने समय तक रेचक करे। इडा नाडी मे वायु को भरे, कुछ देर कुम्भक करके पिंगला से रेचक करे अथवा इसके विपर्यय करे अर्थात् पिंगला से वायु को पूरण करे और कुम्भक करके इडा से उसे रेचन करे –निकाल दे।

प्राणायाम प्रातःकाल, मध्यान्ह काल, सायंकाल और अर्ध रात्रि में चार बार करना चाहिये। शनैः शनैः अस्सी मात्रा तक बढाते बढाते ले जाना चाहिये। अर्थात् पूरक अस्सी मात्रा, कुम्भक ३२० मात्रा और रेचक १६० मात्रा पर पहुँच जायें। इस प्रकार तीन मास के अभ्यास से नाडी शुद्ध हो जायगी। अब प्रश्न यह उठता है, कि इस साधक की नाडी शुद्ध हो गयी इसका क्या प्रमाण ? उसके बाह्य चिन्ह क्या हैं, जिससे जाना जाय कि नाडियों की शुद्धि हो गयी ? इस सम्बन्ध में बताते हैं, कि उसके चार लक्षण हैं। १–नाड़ी शुद्धि होने पर पहला चिन्ह तो यह है, कि शरीर फूल की भाँति हलका हो जाता है। शरीर में लघुता आ जाती है। २-दूसरा चिन्ह यह है, मुख मण्डल पर प्रकार की दीप्ति–प्रभा छटकने लगती है। ३–तीसरा

यह कि जठराग्नि दीप्त हो जाती है अर्थात् भूख खुलकर लगने लगती है। ४–चौथा चिन्ह यह है कि शरीर कृश हो जाता है। ये चिन्ह जिस शरीर में अभ्यास करते-करते आ जायँ मानों उसकी नाड़ीशुद्धि हो गयी।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! बहुत से लोग ऐसे होते हैं, कि जीवन भर अभ्यास करते रहते हैं, उनकी नाड़ीशुद्धि ही नहीं होती। आप कहते हैं प्राणायाम के अभ्यास से तीन ही महीने में नाड़ीशुद्धि हो जाती है, यह क्या बात है?"

सूतजी ने कहा—"भगवन्! योग मार्ग के सभी अधिकारी नहीं होते। योग के साधकों का शरीर जन्म से ही भिन्न होता है। वैसे सर्वसाधारण लोगों का शरीर रोगों का घर होता है। रोगी पुरुष योग के उत्तम अधिकारी नहीं माने जाते। रोगी पुरुष प्राणायाम का अभ्यास करेगा, तो सबसे पहिले तो प्राणायाम के अभ्यास से शनैः-शनैः उसके सब रोग दूर होने लगेंगे। प्राणायाम से वात, पित्त तथा कफ सम्बन्धी रोग शनैः-शनैः दूर होते हैं। पूर्वजन्म कृत पाप ही रोग का रूप रखकर प्राणियों को पीड़ा देते हैं, उनकी शान्ति औषधि से तथा जप, होम, दान और देवार्चन से होती है। शरीर में पूर्वजन्म कृत बहुत से पाप हैं, तो उसकी नाड़ीशुद्धि बहुत दिनों में होगी। यदि क्षीण पाप निरोग विशुद्ध शरीर है, तो तीन महीने के प्राणायाम अभ्यास से ही नाड़ी शुद्धि हो जायगी।

योग के अभ्यास करने वाले साधक को चाहिये कि योग में विघ्न करने वाले आहार का परित्याग कर दे। योगाभ्यास करने वाले को लवण, सरसों का तेल, खट्टी वस्तु, बहुत उष्ण वस्तु, रूखी वस्तुयें, तीक्ष्ण–कड़वी वस्तुएँ, (जीवन्ती, बथुआ, मूल्याची, चौलाई और पुनर्नवा इन पाँच हरे सागों को छोड़कर)

सब प्रकार के हरे शाक, तथा हींग इन वस्तुओं को नहीं खाना चाहिये। उसे अग्नि में बहुत तापना नहीं चाहिये, स्त्री प्रसग न करना चाहिये और बहुत पैदल यात्रा नहीं करनी चाहिये। प्रातः स्नान का आग्रह न करे, उपवास न करे तथा और भी काया को क्लेश कारक कार्यों को न करे।

अभ्यास काल में पहिले पहिल केवल घृत तथा दुग्ध का ही सेवन करे। फिर गेहूँ, मूँग, शाली चावलों का भात इनका भी सेवन करे। ये सब योगवृद्धि करने वाले पदार्थ हैं। इस पर शनैः शनैः अभ्यास से चिरकाल तक वायु रोकने में समर्थ हो जायगा। अर्थात् उसे केवल कुम्भक सिद्ध होने लगेगी। जब केवल कुम्भक सिद्ध हो जाय, तो फिर पूरक और रेचक की आवश्यकता ही नहीं रहती। जिसे केवल कुम्भक सिद्ध हो गयी, उसके लिये तीनों लोकों में कुछ भी दुर्लभ नहीं है।

प्राणायाम के अभ्यास में सर्वप्रथम शरीर से स्वेद-पसीना–निकलता है। उस स्वेद को वस्त्र से पोंछे नहीं, उसे शरीर में ही मल ले। स्वेद के पश्चात अभ्यास करते करते शरीर में कँप-कँपी उठने लगती है। शरीर में आसन पर बैठे बैठे ही कम्प होने लगता है। कम्प के पश्चात् दादुरी गति होने लगता है। अर्थात् शरीर मेढक की भाँति उछलने लगता है। आसन लगा हुआ ही शरीर अपने आप उछल उछलकर चलने लगता है। इससे और अधिक अभ्यास करने से पद्मासनस्थ शरीर भूमि को छोडकर अपने आप ही निराधार आकाश में स्थित होने लगता है। फिर अति मानुष चेष्टायें होने लगती हैं। जैसे आकाश में उडना, वृक्षों को उखाड लेना आदि आदि। परन्तु योगाभ्यास करने वाले साधक को चाहिये कि अपनी सामर्थ्य का प्रदर्शन न करे। प्रदर्शन करने से वह आजीविका उपार्जन का व्यापार बन जाता है। योगाभ्य-

करने वाला योगी अल्प या बहुत दुःख से व्यथित नहीं होता। योगी का मूत्र तथा मल बहुत ही स्वल्प होता है, उसके फोड़ा, फुन्सी, कफ, लार, शरीर में पसीना, मलादि में दुर्गन्ध यह कुछ भी नहीं होते। उसका शरीर दिव्य हो जाता है।

निरन्तर अभ्यास करते रहने से उसके शरीर में अपार बल उत्पन्न हो जाता है। तब उसे भूचर सिद्धि हो जाती है। पृथ्वी पर चलने वाले जितने जीव जन्तु हैं उन पर विजय प्राप्त करने की उसमें सामर्थ्य आ जाती है। उसमें इतनी शक्ति हो जाती है कि उसके सम्मुख व्याघ्र, आठ पैर वाला सिंह को भी मारने वाला शरभ, मदमत्त हाथी, गवय, सिंह कोई भी बलवान् से बलवान् जन्तु क्यों न आ जाय, वह केवल हस्त से ताड़न भर कर दे इसी से वह तुरन्त मर जायगा। उसका स्वरूप कामदेव के सदृश सुन्दर हो जाता है। उस समय उसे एक बात का ध्यान रखना चाहिये। उसके सुन्दर स्वरूप को देखकर, उसके सौंदर्य के वशीभूत होकर बहुत-सी स्त्रियाँ उससे संगम की आकांक्षा करने लगती हैं। यदि उस समय वह उनके चक्कर में फँस गया, उसने उनके साथ संगम कर लिया, तो उसका बिन्दु क्षय हो जायगा। वह अपने मार्ग से च्युत हो जायगा। इसलिये स्त्रियों के संग को सर्वथा त्यागकर आदर के सहित सदा साधन में ही तत्पर रहे। बिन्दुपात एक प्रकार का मरण है। बिन्दु धारण से योगी के शरीर से सुगन्ध आने लगती है।

इसके अनन्तर फिर एकान्त में बैठकर उच्चस्वर से प्रणव का जप करे। उच्चस्वर से प्रणव का बार-बार उच्चारण करने से पूर्वार्जित पापों का नाश हो जाता है। क्योंकि यह जो प्रणव मन्त्र है समस्त विघ्नों का हरण करने वाला है, सभी दोषों का नाश करने वाला है। इस प्रकार प्राणायाम के अभ्यास से

सिद्धियों का आरम्भ सम्भव होता है। प्राणायाम के अनन्तर फिर हठावस्था से अभ्यास करने के कारण ही इस योग को हठयोग कहते हैं। जो पवनाभ्यास तत्पर अर्थात् प्राणायाम मे लगे हुए साधक हैं, वे प्राण-अपान, मन बुद्धि और जीवात्मा परमात्मा इन सबमें परस्पर के अविरोध से एकता घटित हो जाती है। उसी अवस्था का नाम हठावस्था है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इस प्रकार मैंने यम, नियम, और प्राणायाम तक जो हठावस्था है, उसका वर्णन आप से किया, अब प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि इन चारों अङ्गों का वर्णन आगे करूँगा। ऋषियो! यह विषय केवल कथन करने का नहीं है, यह अभ्यास करने का विषय है। अभ्यास करते करते आगे की स्थिति साधक के सम्मुख स्वयं ही समुपस्थित होती जाती है। अतः श्रद्धा के साथ शास्त्रीय विधि से अभ्यास आरम्भ कर दे। अन्तरिक्ष मे बहुत से सिद्ध योगी विचरण करते रहते हैं। योग्य साधक अधिकारी को देखकर वे स्वय साधक के समीप शिक्षा देने के लिये आ जाते हैं। साधक में साधन की दृढता और संसारी विषयों से विराग होना चाहिये। ऐसे साधक को शिक्षा देने के लिये सिद्ध गुरुजन स्वयं लालायित रहते हैं। जैसे ध्रुवजी अपने पिता के नगर से विरक्त होकर दृढ़ता धारण करके साधन के लिये जब घर से निकल कर वन को चल दिये, तब अपने आप ही नारदजी उन्हें शिक्षा देने के लिये आ गये और मन्त्रोपदेश देकर चले गये। साधक जितना शिक्षा पाने को लालायित रहता है, उससे शिक्षा देने को अन्तरिक्ष में विचरण करने वाले सिद्ध पुरुष भी उतने ही लालायित रहते हैं। ये जो व्यापारी कान फूँका गुरु हैं, [illegible] होते हैं। इनसे परमार्थ की सिद्धि सम्भव नहीं। अतः ...

को साधन में बड़ी सतर्कता वर्तनी चाहिये। आगे हठावस्था के चिन्हों का कथन किया जायगा। उसे आप दत्तचित्त होकर श्रवण करें।"

छप्पय

लघु अहार यम, नियम–अहिंसा, आसन चहुतक।
सिद्ध, पद्म अरु सिंह, पद्म ये मुख्य चतुष्टक॥
पूरक रेचक कुम्भ प्राण संयम कहलावें।
केवल कुम्भक श्रेष्ठ सबनि में योगि बतावें॥
सिद्ध प्राण संयम जबहिँ, लघुता, दीप्ति, क्षुधा बढ़ै।
कृशता होवै गन्धतन, साधक अभ्यासहिँ चढ़ै॥

योगतत्त्व-उपनिषद्-सार (२)

(३०६)

समाधिः समतावस्था जीवात्म परमात्मनोः ।
यदि स्वदेहमुत्सृष्टुमिच्छा चेदुत्सृजेत्स्वयम् ॥*
(यो० त० उ० १०७ म०)

छप्पय

केवल कुंभक करै सुप्रत्याहार कहावै।
जो जो देखे सुने आतमा ताकूँ भावै॥
करै धारणा सगुण सिद्धि अणिमादिक मिलि हैं।
निर्गुण को करि ध्यान समाधी तुरत मिलति हैं॥
द्वादश दिन तक समाधी, जीवन्मुक्तहु होइ नर।
समता कही समाधि है, जीवब्रह्म सम ध्यान धर॥

यम नियम लघु आहार अहिंसा जो इस उपनिषद् में बताये हैं ये तो योगियों को तथा सभी मार्गों के परमार्थ पथिकों को सदा पालनीय हैं ही। योग का आरंभ आसनों से होता है। आसन और प्राणायाम ये वाह्य साधन हैं। धारणा, ध्यान और समाधि ये तीनों संयम कहलाते हैं। ये आभ्यन्तर साधन हैं।

---

*जीवात्मा और परमात्मा की समतावस्था का नाम ही समाधि है। समाधि अवस्था प्राप्त योगी यदि अपने शरीर का त्याग करना चाहे तो स्वयं स्वेच्छा से ही अपने शरीर का परित्याग कर दे।

प्रत्याहार वाह्य और आभ्यन्तर दोनों को जोड़ने वाला अंग है। अर्थात् प्राणायाम से जब धारणा में प्रवेश करेगा, तो प्रत्याहार के ही द्वारा करेगा। प्रति आहार का तात्पर्य यह है, कि मन जहाँ-जहाँ भी अपनी चंचलता से जाय, वहाँ से उसे बार-बार लौटा लौटाकर आत्मा में लगावे, धारणा को दृढ़ बनाने के निमित्त मन को बल पूर्वक लगावे।

पिछले अध्याय में यम, नियम, आसन और प्राणायाम व वर्णन हो चुका। अब प्रत्याहार, धारणा, ध्यान तथा समाधि सम्बन्ध में सुनिये।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब हठावस्था शरीर में है जाय, तो उसके क्या चिन्ह होते हैं-इसे बताते हैं। पहिले जं प्राणायाम का चार बार अभ्यास करने को बताया है। उसं से चतुर्थांश को ग्रहण करे। चाहे दिन में या सायंकाल में एक याममात्र एक प्रहर अभ्यास करे। दिन में केवल एक बार पूरक रेचक को त्यागकर केवल कुंभक को ही करे। केवल कुंभक करके इन्द्रियों को उनके शब्द, रूपादि विषयों से हटाकर मन को आत्मा में लगावे उसी का नाम प्रत्याहरण है। योगी कुंभक ही करके स्वाँसों को रोक ले, मन को इधर-उधर न जाने दे इसी को प्रत्याहार कहते हैं। चक्षु से जो जो देखे उस उसमें आत्मा की ही भावना करे।

इसी प्रकार कान से जो जो सुने, नासिका से जो जो सूँघे, जिह्वा से जो जो रस ले, त्वचा से जो जो स्पर्श करे, इन सबमें आत्मा की भावना करे। इस प्रकार ज्ञानेन्द्रियों द्वारा जो चेष्टा करे वह सब सुखकर है ऐसी भावना करे। इस प्रकार एक प्रहर (३ घंटा) योगी अतन्द्रित होकर अभ्यास करे। इस प्रकार अभ्यास करने से योगी के चित्त में विशेष सामर्थ्य आ जायगी।

वह कितनी भी दूर की बात को सुन सकता है, कितनी भी दूर की वस्तु का देख सकता है, क्षण भर में दूर से दूर जा सकता है। उसको वाकसिद्धि हो जाती है, वह जो कह देता है वही हो जाता है। वह जैसा चाहे वैसा रूप बना सकता है, वह बैठा बैठा जहाँ से चाहे तुरन्त अदृश्य हो सकता है। उसके मल-मूत्र को यदि लोहे के ऊपर लेपन कर दो तो वह तुरन्त सुवर्ण बन जायगा। योग के निरतर अभ्यास से उसकी आकाश में उड़ने की शक्ति हो जाती है। इसलिये योगी को सतत योग सिद्धि के निमित्त प्रयत्न करते रहना चाहिये। ये जितनी सिद्धियाँ ऊपर गिनायी हैं। ये सब महासिद्धि जो मोक्ष है उसमें विघ्न करने वाली हैं। इसलिये योगी को जिस किसी को अपनी योग की सामर्थ्य दिखानी नहीं चाहिये। प्रदर्शन करने से योग की सिद्धियाँ चली जाती हैं।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! योग की सिद्धियाँ दिखाने से तो लोगों को योग मार्ग में उत्साह मिलता है। प्रदर्शन तो प्रचार का साधन है, इससे सिद्धियाँ चली क्यों जाती हैं?"

सूतजी ने कहा—"भगवन् ! प्राणी प्रदर्शन पद, प्रतिष्ठा और पैसा के निमित्त करता है। मोक्ष मार्ग में तीनों ही विघ्न हैं। जब प्रदर्शन करने से शक्ति क्षीण होने लगती है तो फिर मनुष्य दम्भ करने लगता है। दम्भ उसे कहते हैं कि हम पंडित तो हैं नहीं, किन्तु अपने को पंडित प्रदर्शित करें।"

मगधदेश में एक योगाभ्यासी साधक थे। अभ्यास करते-करते उनमें आकाश में गमन करने तक की सामर्थ्य आ गयी थी। एक दिन वहाँ का राजा उनके पास दर्शन करने आया। अपनी प्रतिष्ठा बढ़ाने को योगी ने आकाश में उड़कर अपनी

सिद्धि राजा को दिखायी। राजा उनकी सिद्धि देखकर अत्यन्त प्रभावित हुआ और उनका शिष्य बन गया।

ये धनिक लोग किसी के प्रभाव में आकर शिष्य बन जाते हैं, तो उसे अपने ही समान बनाने की चेष्टा करते हैं। क्योंकि वे विषयों में ही सुख समझते हैं, गुरु को भी भक्तिवश वे ही विषय सुख सामग्रियाँ समर्पित करते हैं, अतः साधकों को धनिकों से सदा बचते रहना चाहिये। उनके अधीन कभी न हो।

राजा ने योगी से प्रार्थना की भगवन्! नित्य मेरे यहाँ भोजन करने पधारा करें योगी ने राजा की प्रार्थना स्वीकार कर ली। अब वह प्रतिदिन आकाश मार्ग से राजा के महलों में जाता। राजा उसे नित्य भाँति-भाँति के छप्पन भोग सोने चाँदी के बर्तनों में श्रद्धापूर्वक भोजन कराता। भोजन करके योगी आकाश मार्ग से ही अपनी कुटी में लौट आते।

एक दिन राजा को किसी विशेष कार्य वश कहीं अन्यत्र जाना पड़ा। राजा की एक अत्यन्त ही सुन्दरी परम आज्ञाकारिणी दासी थी। उसे योगी की सेवा में नियुक्त करके वह बाहर चला गया। सदा की भाँति योगी आकाश मार्ग से भोजन करने महलों में आये। उस परमसुन्दरी दासी ने बड़ी श्रद्धा से भोजन कराया। वह अकेली ही थी। योगी उसके सौंदर्य को देखकर विचलित हो गये। विन्दुक्षय होने से उनकी आकाश में उड़ने की शक्ति तुरन्त नष्ट हो गयी। कई बार प्रयत्न करने पर भी जब वे उड़ न सके, तो उन्होंने दम्भ का आश्रय लिया। दासी से बोले—"नगर की जनता चिरकाल से मेरे दर्शनों के लिये उत्सुक हो रही है। आज मैं सबकी इच्छा पूर्ति करता हुआ सबको दर्शन देता हुआ पैदल ही जाऊँगा।"

दासी उसके दम्भ को समझ न सकी, योगी पैदल ही गये। उनकी आकाश में उडने की शक्ति समाप्त हो चुकी थी।

अतः योगी को कभी भूलकर भी ससारी लोगों के सम्मुख अपनी सिद्धि का प्रदर्शन नहीं करना चाहिये। पद प्रतिष्ठा और पैसा इनके प्रलोभनों से सदा बचते रहना चाहिये।

सूतजी कह रहे हैं—सो, मुनियो! योग के साधक को ज्ञानी होकर भी मूढ की भाँति वना रहना चाहिये। देखते हुए भी अन्धा, सुनते हुए भी बहरे के समान बनकर अपनी योग की सामर्थ्य को छिपाये रहना चाहिये। सिद्धियाँ जब आने लगती हैं, तो बहुत से शिष्य बन जाते हैं, वे शिष्य अपने-अपने कार्यों की सिद्धि के निमित्तप्रार्थना करने लगते हैं। उनके कार्यों को करते हुए भी अपने निज के अभ्यास को न भुला दे। गुरुदेव के वचनों को स्मरण करके अव्यग्र भाव से दिन रात्रि साधन में जुटे ही रहना चाहिये। इस प्रकार निरन्तर के अभ्यास से हठावस्था प्राप्त होती है। जो लोग साधन काल में बकवाद करने लगते हैं साधन करने मे आलस्य कर जाते हैं उन्हें सिद्धि प्राप्त नहीं होती। इसलिये समस्त प्रयत्नों द्वारा केवल योग का ही अभ्यास करता रहे।

हठावस्था के अनन्तर परिचयावस्था आती है। पहिले हम योग की आरम्भावस्था, घटावस्था, परिचयावस्था और निष्पत्ति अवस्था ये चार अवस्था बता चुके हैं। आरम्भावस्था, घटावस्था अथवा हठावस्था का वर्णन तो हो चुका अब परिचयावस्था के विषय में श्रवण कीजिये। जिस अवस्था में यत्नपूर्वक वायु अग्नि के सहित कुंडलिनी शक्ति को लेकर सुषुम्नापथ में बिना विरोध के प्रविष्ट हो जाय, उस वायु के साथ चित्त भी उस सुषुम्ना के महापथ

में प्रविष्ट हो जाय, तो पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश जो पंचभूत हैं। इनमें धारणा हो जाती है।

जैसे पैर से लेकर जानुपर्यन्त शरीर में जो स्थान है वह भूमि स्थान है। पृथ्वी चतुष्कोण है, पीला इसका रंग है। लं इसका मातृका वर्ण है। पृथ्वी में वायु का लकार सहित आरोप करके वहाँ पर चतुर्भुजाकार चार मुख वाले हिरण्य वर्ण सदृश ब्रह्माजी का ध्यान करे। इस प्रकार पाँच घड़ी (दो घंटे तक) ध्यान करने से पृथ्वी का लय हो जाता है। पृथ्वी पर विजय प्राप्त करने से पृथ्वी के योग के कारण-योगी मृत्यु के बन्धन से सदा के लिये छूट जाता है। यह तो पृथ्वी लय का वर्णन हुआ। अब जल लय का वर्णन सुनो।

शरीर में जानु से लेकर वायु-गुदा-पर्यन्त स्थान जल का स्थान कहा गया है। जल का स्वरूप अर्धचन्द्राकार है। रंग इसका शुक्ल है, वं बीज है। जल में वायु का आरोप करके वं बीज के सहित वहाँ भगवान् नारायण विष्णु का चिन्तन करे। भगवान् चतुर्भुज हैं, किरीट मुकुट धारण किये हुए हैं, शुद्ध-स्फटिक के सदृश उनके श्रीअंग का वर्ण है, पीताम्बर को धारण किये हुए हैं। ऐसे अच्युत भगवान् विष्णु का जल स्थान में पाँच घड़ी (दो घन्टा) तक ध्यान करे। इससे योगी समस्त जन्म जन्मान्तरों के पापों से सदा के लिये छूट जाता है। फिर उसे जल से तनिक भी भय नहीं रह जाता। जल में चाहें वह कितने ही काल तक डूबा रहे। जल में उसकी मृत्यु हो ही नहीं सकती। इस प्रकार जल स्थान को जय करके फिर अग्नि स्थान में आवे।

गुदा से लेकर हृदयपर्यन्त जो देह में स्थान है, वह अग्नि का स्थान है। अग्नि का आकार त्रिकोण है, रक्त इसका वर्ण है।

र अक्षर इसका बीज है। अग्नि मे वायु का आरोप करके र बीजाक्षर के सहित त्रियक्ष जो वर देने वाले रुद्रदेव हैं उनका ध्यान करे। वे रुद्रदेव केसे हैं ? तरुण आदित्य के सदृश तो उनके अङ्ग की आभा है, उनका समस्त शरीर भस्म से अनुलिप्त है और वे सुप्रसन्न मुद्रा में विराजमान हैं। ऐसे रुद्रदेव का वन्हिस्थान में पाँच घड़ी तक ध्यान करे। तो फिर योगी वन्हि में कूद पडे तो भी वन्हि उस जलाती नहीं है। अग्नि स्थान को विजय करके फिर वायु स्थान में आवे।

हृदय से लेकर भौंहों के मध्य तक वायु स्थान बताया गया है। वायु को षटकोंण कहा है। कृष्ण इसका वर्ण है। य यह अक्षर बीज मत्र दीप्तिमान है। वायु को वायु के स्थान मे य बीज मत्र और भा० सूर्य सदृश दीप्ति सहित वहाँ सर्वज्ञ ईश्वर जो विश्वतोमुख हैं उनका पाँच घड़ी तक ध्यान करे। जब वायु स्थान को विजय कर ले, तब आकाश स्थान म जाय।

दोनों भौंहों के मध्य से मूर्धापर्यन्त आकाश का स्थान कहा गया है। व्योम स्थान वृत्ताकार गाल है, वर्ण धूम्र के सदृश है। दीप्तिमान ह अक्षर बीज है। आकाश मे वायु को आरोप करके उसके ऊपर ह बीज को जो निन्दुरूप हैं सदाशिव। हैं जो व्योमाकार सदाशिव शकर महादेव हैं, उनका ध्यान करे। वे शकर कैसे हैं ? शुद्ध स्फटिकमणि के सदृश तो उनका शरीर है, माथे पर द्वितीया का बाल चन्द्र धारण किये हुए हैं। पॉच उनके मुख हैं, सौम्य स्वरूप हैं, दश भुजायें हैं, तीन नेत्र हैं। समस्त अपने आयुधों को धारण किये हैं, समस्त भूषणों से भूषित हैं। भगवती उमा उनके अर्धदेह में शोभित हैं। अर्थात् अर्धनारी नटेश्वर हैं। समस्त कारणो के भी कारण हैं तथा वरदाता हैं। आकाश की धारणा से आकाश में उड़ने की शक्ति निश्चय ही प्राप्त हो जाती है। ऐसा योगी

जहाँ भी कहीं रहे उसे अत्यन्त सुख की प्राप्ति होती है। इस प्रकार प्राणायाम के अनन्तर पाँच प्रकार की धारणा योगी को करनी चाहिये। धारणा के प्रभाव से शरीर अत्यन्त सुदृढ़ हो जाता है, उसकी कभी मृत्यु नहीं हो सकती। ब्रह्माजी के प्रलय के समय भी ऐसा योगी दुखित विचलित नहीं होता। अब धारणा के अनन्तर ध्यान का अभ्यास करे। धारणा की परिपक्वावस्था का ही नाम ध्यान है, इस प्रकार साठ घड़ी तक (२४ घंटे तक) ध्यान करे। आकाश स्थान में वायु को रोककर इष्ट देवता का ध्यान करे। यदि सगुण रूप का ध्यान करेगा, तो उस ध्यान से अणिमादि समस्त सिद्धियाँ प्राप्त हो जायँगी और यदि निर्गुण का ध्यान करेगा, तो उसकी समाधि लग जायगी। क्योंकि ध्यान की परिपक्वता का ही नाम समाधि है। समाधि लगने पर बिना खाये पिये बारह दिनों तक एक ही स्थान पर समाधि मग्न होकर बैठा रहेगा। वायु के निरोध से समाधि लग जाने पर वह योगी जीवन्मुक्त हो जाता है। जीवात्मा और परमात्मा की समतावस्था का नाम ही समाधि है। यदि इस शरीर को त्यागने की योगी को इच्छा हो तो स्वयं ही शरीर को बिना कष्ट के त्याग सकता है। तब वह शरीर त्याग के अनन्तर परब्रह्म परमात्मा में लीन हो जाता है फिर उसकी उत्क्रान्ति-पुनर्जन्म-सम्भव नहीं। यदि उसकी इच्छा-शरीर त्यागने की न हो, उसे शरीर में रहना ही प्रिय लगता हो, तो उसी शरीर से वह अणिमादि समस्त सिद्धियों से समन्वित होकर ब्रह्मलोक पर्यन्त समस्त लोकों में स्वेच्छानुसार आ जा सकता है आनन्द विहार कर सकता है। कभी भी अपनी इच्छानुसार देवता बनकर स्वर्गलोक में आनन्द से रह सकता है। अपनी इच्छानुसार मनुष्य, यक्ष, सिंह, व्याघ्र, गज, घोड़ा जो भी चाहे देखते-देखते-बन

सकता है। योगी महेश्वर के सदृश जो चाहें सो करने में समर्थ होता है। अभ्यास भेदों से सिद्धि में भेद हो जाते हैं, वैसे फल सब योग का एक-सा ही है

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! इस प्रकार यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि इन हठयोग के आठ अगों का वर्णन हो चुका। अब महाबन्ध के सम्बन्ध में सुनिये।

महाबन्ध—"बायें पैर की एड़ी को (सिद्धासन की भाँति) योनि स्थान में लगावे, दक्षिण पैर को फलाकर उस फैलाये पेर को दोनों हाथों से दृढता पूर्वक पकड़े। ठोढी को हृदय में लगाकर फिर पूरक प्राणायाम द्वारा वायु को पेट में भर ले। जितनी शक्ति हो, उतनी देर कुम्भक के द्वारा वायु को धारण करके, फिर उसे शनैः शनैः रेचन कर दे-अर्थात् वायु को नाक द्वारा निकाल दे। इस प्रकार बार-बार बायें अङ्ग का अभ्यास करके फिर इसी भाँति दायें अग का अभ्यास करे। अन्त मे फेलाये हुए पैर को उरु पर रखकर दृढता से बैठा रहे। इसी का नाम महाबन्ध है। दायें बायें दोनों ही ओर अभ्यास करे।

महावेध—जो योगी महाबन्ध में स्थित एकाग्रचित्त से पूरक प्राणायाम करता है। वायु की गति रोककर कर्णमुद्रा द्वारा एकान्त में दोनों ओठों को भींचकर करने से शीघ्र ही वायु स्फुरित होगी। इसी का नाम महावेध है। योगी को चाहिये कि इसका अभ्यास दिन भर करता रहे।-

खेचरी मुद्रा—भीतर जो कपाल कुहर है। कण्ठ का छेद है, उसमें जिह्वा को उलटकर प्रवेश करा दे। अपनी दृष्टि को दोनों भौंहों के मध्य में जमा ले। इसी का नाम खेचरी मुद्रा है।

जालन्धर बन्ध—कण्ठ को सिकोड़कर चिबुक को हृदय में

दृढ़ता से लगावें, इसी का नाम जालन्धर बन्ध है। यह मृत्युरूप मातङ्ग-हाथी-के लिये केशरीसिंह के समान है।

उड्यान बन्ध—"जिस बन्ध के द्वारा प्राण सुषुम्ना में उड़ जायँ, इसी का नाम उड्यान बन्ध है। उदर को खींचकर पीठ से लगाले।

मूलबन्ध या योनिबन्ध—"एड़ी के भाग से अच्छी प्रकार संपीडन—दबाकर योनिस्थान को जितना कर सके उतना संकुचित करे। अपान वायु को ऊपर की ओर उठाकर खींचता रहे। इसी का नाम योनिबन्ध है। इसे मूलबन्ध भी कहते हैं। इससे प्राण-अपान, नाद और बिन्दु को एकता होती है। इस प्रकार मूलबन्ध करने से योग की संसिद्धि प्राप्त होगी। इसमें संदेह नहीं।

विपरीत करणीमुद्रा—"विपरीत करणीमुद्रा से सभी प्रकार की व्याधियों का नाश हो जाता है। इसे शीर्षासन भी कहते हैं। शिर को तो नीचे भूमि में टिकाले। दोनों पैरों को ऊपर की ओर तानकर फैला दे। प्रथम दिन में क्षणभर करे। फिर शनैः-शनैः समय बढ़ाता जाय। बढ़ाते-बढ़ाते तीन घन्टे (एक प्रहर) तक अभ्यास को बढ़ावे। नित्य नियम से विपरीत करणी करने से जठराग्नि बहुत बढ़ जायगी। भूख बहुत लगने लगेगी। उस समय साधक को यथेष्ठ आहार इकट्ठा करके खाना चाहिये। यदि थोड़ा आहार करेगा, तो जठराग्नि शरीर को ही खा जायगी। अतः विपरीत करणी करने वाले को यथेष्ट घृत दुग्धादि आहार करना चाहिये। इससे शरीर की झुर्रियाँ मिट जायँगी। सफेद बाल काले हो जायँगे। ६ महीने में ही यह चमत्कार दिखायी देगा। जो इस शीर्षासन को एक समय में तीन घन्टे तक (एक-याम या प्रहर पर्यन्त कर लेता है, वह योगी कालजित हो जाता है।"

वज्रोली—वज्रोली क्रिया का अभ्यास करे। जो वज्रोली क्रिया का अभ्यास करता है वह योगी सिद्धि का अधिकारी हो जाता है। यदि उसे वज्रोली की क्रिया प्राप्त हो जाय तो सिद्धि उसके हाथ पर ही धरी है। वह भूत भविष्य की बातें जान लेता है। आकाश में उड सकता है।

अमरोली—अमरी को जो नित्य नित्य पीता है और प्रतिदिन नस्य करता है। वज्रोली का जो नित्य अभ्यास करे उसी को अमरोली कहते है। इनके करने से राजयोग होता है। इसमें अन्तराय नहीं होता। जब राजयोग द्वारा योगी की क्रिया सम्पन्न होती है तब हृदय में विवेक वैराग्य उत्पन्न होता है। तब उसे बोध होता है कि भगवान् विष्णु ही महायोगी, महाभूत तथा महातपा हैं। वे पुरुषोत्तम तत्त्व मार्ग मे दीपक के सदृश प्रकाशित होते हैं। इस प्रकार तो उस विवेक होने लगता है।

ससारी विषयो से विराग भी होने लगता है। वह सोचता है—देखो, जिस माता के स्तन को पान करके बडे हुए उसी स्तन को निपीडन करने में क्या सुख है ? माता को जिस योनि से हम उत्पन्न हुए उसी में रमण करने में क्या सुख है ? ससार में देखा जाय तो इस जन्म में जो माता है, दूसरे जन्म में वही भार्या हो जाती है। जो इस जन्म में भार्या है वही दूसरे जन्मो मे हमारी माता बन जाती है। जो आज हमारा पिता है, वह दूसरे जन्मों में पुत्र बन जाता है, जो इस जन्म मे हमारा पुत्र है, दूसरे जन्मों मे वही पिता बन जाता है। जैसे कुए का रहँट कभी ऊपर आ जाता है, फिर नीचे चला जाता है, फिर ऊपर चला आता है ऐसे ही यह ससार चक्र चल रहा है। ऊपर के नीचे हो जाते हैं नीचे के ऊपर आ जाते हैं। देखो तीनों लोक, तीनों वेद, तीनों सन्ध्यायें, तीनों स्वर, तीनों अग्नियाँ तथा तीनों गुण ये सबके सब प्रणव के

तीनों अक्षरों में स्थित हैं। इन तीनों अक्षरों में जो भी कोई आधे अक्षर का अध्ययन कर लेता है उसने सब कुछ जान लिया। उसी के द्वारा यह विश्व ब्रह्माण्ड आपूरित है, वही परमपद है। जैसे पुष्प में गन्ध है, दूध में घृत व्याप्त है, तिल में तेल, पाषाण में सुवर्ण वैसे ही विश्व में सर्वत्र प्रणव व्याप्त है।

हृदय स्थान में स्थित जो कमल है, वह टेढ़ा है, उसका मुख नीचे की ओर है, उसकी नाल ऊपर की ओर है। उसके नीचे बिन्दु है, उसके मध्य में मन स्थित है। इसलिये प्रणव के अकार से उस हृदय पद्म को रेचित करे–निकाले–उकार से उसका भेदन करे। मकार से नाद को प्राप्त करे। उस प्रणव में जो ऊपर की ओर अर्धमात्रा है वह निश्चला है; वह शुद्ध स्फटिक के सदृश निष्कल और पापनाशक है। जो योगयुक्तात्मा पुरुष है वही उस परमपद को प्राप्त कर सकता है। जैसे कछुआ अपने हाथ, पैर, शिर तथा सभी अंगों को सिकोड़कर सिमिटकर बैठ जाता है, उसी प्रकार योगी शरीर के नौओं द्वारों को समेटकर पूरक, कुम्भक, रेचक के द्वारा प्राणायाम का अभ्यास करे। नौ द्वारों में और सब तो निषिद्ध है। ऊपर के द्वार नाक से ही स्वाँस को लेवे और छोड़े। जैसे घड़े में दीपक रख दो तो वहाँ वह निर्वात रूप में सुरक्षित रहेगा, बुझेगा नहीं। इसी प्रकार कुम्भक प्राणायाम को जानो। ये जो नवद्वार हैं ये निषिद्ध हैं, इनसे वायु निकलने न पावे। भीतर जो कुम्भक के द्वारा गई वायु है वह निर्जन में निरुपद्रव रूप से स्थित है। इसलिये केवल आत्मा ही अवशिष्ट रह जाती है। योगी को चाहिये कि आत्मतत्त्व का ही सेवन करे। आत्मज्ञान के लिये ही योग द्वारा अभ्यास करे। यही योगतत्त्व उपनिषद् है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! यह मैंने योगतत्त्व उपनिषद्

सार सुनाया। अब आप आत्मप्रबोध उपनिषद् के सार को श्रवण कीजिये।"

छप्पय

महाबन्ध अरु महावेध खेचरि मुद्रा करि।
उलटि जीभ कूँ रहै भ्रुकुटि में इष्ट ध्यान धरि॥
जालन्धर उड्यान, मूलहू बन्ध कहावै।
तीनों बन्धनि बाँधि नाद अरु बिन्दु मिलावै॥
शीर्षासन तें भूख बहु, बढ़ै तीन घण्टा करै।
वज्रोली अमरौलि हू वैराग्यहु हिय में भरै॥

इति योगतत्त्व-उपनिषद्-सार समाप्त

आत्मप्रबोध-उपनिषद्-सार

(३०७)

ब्रह्मादिकीट पर्यन्ताः प्राणिनो मयि कल्पिताः ।
बुद्बुदादि विकारान्तरतरङ्ग सागरे यथा ॥*

(आ० प्र० उ० १४ मं०)

छप्पय

सुखप्रद आत्मप्रबोध उपनिषद दिव्य महाश्रति ।
प्रथम प्रशंसा विष्णुदेव ब्रह्मण्य महामति ॥
करे भावना शुद्ध ब्रह्म हौं जगत् न कबहूँ ।
मैं अति दिव्य महान् मरे तन मरूँ न तबहूँ ॥
नहीं बन्ध नहिं मुक्ति है, हौं अद्वय अखिलेश हूँ ।
सत, चित, आनँद घन विमल, माया परे महेश हूँ ॥

यह जगत् असत् है। सत् एकमात्र श्रीहरि ही हैं। एकमात्र चैतन्य आत्मा को छोड़कर संसार के जितने अनात्म पदार्थ हैं। सब असत् हैं, निस्सार हैं, कल्पित हैं, मिथ्या हैं। मिथ्या पदार्थों के पीछे इतना बवंडर क्यों बन गया है ? मिथ्या पदार्थों के पीछे जीव इतने क्यों भटक रहे हैं ? मिथ्या पदार्थों के पीछे लोग

---

* ब्रह्मा से लेकर कीट पर्यन्त जितने भी प्राणीमात्र हैं वे मुझमें उसी प्रकार कल्पित हैं, जिस प्रकार सागर में उसके बुद्बुद तथा तरङ्गादि विकार कल्पित हैं।

इतने दुखी क्यों हो रहे हैं। जब शशक के सींग हैं ही नहीं, आकाश की बेल मे फूल खिले ही नहीं, बन्ध्या ने पुत्र पैदा किया ही नहीं, तब इन मिथ्या पदार्थों के विषय में सोच सोचकर लोग आकुल व्याकुल क्यों बने रहते हैं ? आत्मा ने यह क्या कर रखा है ? इसका उत्तर देते हैं, जी एक जाल है। तो क्या यह जाल आत्मा से भी बढकर है कि इसने आत्मा को भी फँसा रखा है। क्या है इस जाल का नाम ? अजी, इस जाल का नाम है माया। मायाजाल मे ही सब आबद्ध हैं ? क्या आत्मा भी मायाजाल के चक्कर में है ? हाँ, वह भी है। यह तो तुमने विचित्र बात कह दी। माया के जाल मे आत्मा फँस गया तब तो माया का ही जाल सर्वश्रेष्ठ है।" अजी, आत्मा तो न फँसा है न निकला है। भ्रमवश–मायावश–अविद्या के कारण आत्मा को फँसा हुआ मान लेते हैं। जहाँ यह बोध हो गया, कि आत्मा इन माया के गुणों से सर्वथा पृथक है, वहीं माया तिरोहित हो जाती है। जल में लहरें भी दीखती हैं, तरगे भी दीखती हैं, बुद्बुद भी दीखते हैं। जहाँ जल को हाथ मे लेकर दो चार बार उँगली से छूकर देखो न उसमें तरगें हैं न बुद्बुद। शुद्ध जल ही जल है। आत्मा निर्मल, निर्विकार है इसी के ज्ञान का नाम आत्मप्रबोध है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! अब आप आत्मप्रबोध उपनिषद् का सार सिद्धान्त श्रद्धा सहित श्रवण करने की कृपा करें। इसका वाङ्मेमनसि इत्यादि शान्तिपाठ है। यह ब्रह्मज्ञान सम्बन्धी एक छोटी-सी बहुत ही महत्त्वपूर्ण उपनिषद् है।

प्रत्यक् आनन्द, ब्रह्मपुरुष प्रणव स्वरूप है। अकार उकार और मकार तीनों अक्षरों वाला प्रणव है। उसी को ॐ कहते हैं। उसे कहने से योगी जन्म ससारबन्धन से छूट जाता है।

'ॐ नमो नारायणाय' यह अष्टाक्षर मंत्र है। शङ्ख, चक्र, गदा को धारण करने वाले विष्णु हैं। जो इस अष्टाक्षर मंत्र की उपासना करता है वह वैकुण्ठलोक को प्राप्त करता है। यह जो ब्रह्मपुर पुण्डरीक है, वह विद्युत् की आभा के सदृश प्रकाशमय है। श्रीकृष्ण ही नारायण हैं। वे देवकी पुत्र, मधुसूदन, पुण्डरीकाक्ष, अच्युत, विष्णु, ब्रह्मण्यदेव हैं। वे ओंकारस्वरूप विष्णु सर्वभूतस्थ, एक, नारायण, कारणपुरुष, अकारण, परब्रह्मस्वरूप हैं। जो उन शोक मोह विनिर्मुक्त विष्णु का ध्यान करते हैं वे दुखी नहीं होते। वे द्वैत-अद्वैत, अभयस्वरूप हो जाते हैं। जो इस जगत् में नानात्व देखते हैं। मृत्यु के द्वारा मृत्यु को प्राप्त होते हैं। हृदयकमल के मध्य में जो भी कुछ है प्रज्ञान द्वारा प्रतिष्ठित है। प्रज्ञा ही नेत्र है, प्रज्ञा ही लोक है, प्रज्ञा ही प्रतिष्ठा है प्रज्ञान ही ब्रह्म है। जो आत्मा इस लोक में उस प्रज्ञान ब्रह्म को जानकर उत्क्रमण करता है, वह तो परलोक में समस्त कामनाओं को प्राप्त करके अमृत हो जाता है अमृत हो जाता है। जिस लोक में अजस्र ज्योति प्रवाहित होती रहती है उस अमृत, अक्षत, अच्युत, लोक को आत्मज्ञानी प्राप्त होते हैं। ओं नमः ब्रह्मज्ञानो को ऐसी भावना करनी चाहिये। *मेरी माया प्रगलित* हो गयी है। मैंने उस अलभ्य वस्तु को प्राप्त कर लिया है। मेरा जीव भाग विगलित हो गया है। मैं अजर, *अव्यय*, पक्ष-विपक्ष आदि भेदों से रहित, सूक्ष्म, अक्षर, निस्त्रैगुण्य, कूटस्थ, एक, अविकल, केवल, विभु, वेद्य, *परमानन्दघन*, अद्वय, *शुद्ध तथा* शाश्वत विज्ञान समरस आत्मस्वरूप हूँ।

यद्यपि मैं विवेकयुक्ति बुद्धि से अद्वय आत्मा को जानता हूँ तो भी बन्ध मोक्षादि व्यवहार में प्रतीत होता है। यद्यपि मैं प्रपञ्च से सर्वथा निवृत्त हूँ, तथापि यह जगत् सत्यवत् भासता है। जैसे

टेढ़ी मेढी पडी रस्सी में पहिले तो सर्प की प्रतीति होती है, किन्तु उसमें सत्ता केवल रस्सी की ही है। उसी प्रकार यह जगत् सत्य सा प्रतीत होता है, किन्तु सत्ता केवल ब्रह्म की ही सत्य है। यह प्रपञ्च तो आधार रूप में है, जगत् की वास्तविक सत्ता नहीं है। जैसे ईख का रस ही शर्करा के रूप में हो गया है। शर्करा में ईख के रस के अतिरिक्त कुछ भी नहीं। इसी प्रकार जगत् में ब्रह्म के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। मैं अद्वय ब्रह्मरूप से ही तीनों लोकों में व्याप्त हूँ।

ब्रह्मा से लेकर चींटी पर्यन्त समस्त प्राणी मुझमे ही कल्पित हैं, जैसे सागर के जल में तरग और बुद्‌बुद आदि कल्पित हैं। तरगस्थ द्रव की समुद्र वाछा नहीं करता। इसी प्रकार विपयानद की वाछा मुझे नहीं है, क्योंकि मैं स्वय ही आनन्दस्वरूप हूँ। जैसे सम्पन्न पुरुप को दारिद्र्य की वांछा नहीं होती ऐसे ही ब्रह्मानन्द में निमग्न मुझे विपयों की आशा नहीं है। बुद्धिमान विप और अमृत को देखकर विप को छोड देता है। उसी प्रकार मैं आत्मा को देखकर अनात्म पदार्थों का परित्याग कर देता हूँ। देह का अवभासक साक्षी देह के नाश होने पर नष्ट नहीं होता। इसी प्रकार शरीर के नाश होने पर कूटस्थ आत्मा नष्ट नहीं होता। मुझे न बन्ध है न मुक्ति, मेरा न कोई शास्त्र न गुरु, यह जितना भी प्रपञ्च है सब मायामात्र विकास है। मैं स्वय मायातीत अद्वय हूँ। प्राण भले ही चले जायें। मन चाहें सद्धर्म पर चले चाहे कामवासनाओं मे हन्यमान हो। मेरी बुद्धि तो आनदसागर में परिपूर्ण है। भला बताइये मुझे दुःख कैसे हो सकता है?

मैं भली प्रकार आत्मा को जान चुका हूँ, मेरे समीप से अज्ञान भाग गया है, मेरा कर्तृत्व सर्वथा नष्ट हो चुका है, मेरे

लिये अब कोई कर्तव्य अवशिष्ट नहीं रह गया है। मैं ब्राह्मण हूँ, मेरा यह कुल, गोत्र तथा नाम, जाति है, मैं इतना सुन्दर हूँ, स्थूल हूँ ये सब देह की उपाधियाँ हैं, मैं तो देह से भिन्न हूँ, अतः इनमें से कोई भी उपाधि मुझमें नहीं है। क्षुधा, पिपासा, आधि, व्याधि, अंधापन, बहरापन, काम क्रोधादि ये जितने विकार हैं, सब लिङ्ग देह के हैं, मैं स्वयं तो अलिङ्ग हूँ, फिर भला ये आधि और व्याधियाँ मुझे कैसे हो सकती हैं ?"

जड़ता, प्रियता, मोहादि धर्म ये सब कारण देह के हैं, मैं तो नित्य और निर्विकार हूँ मुझमें ये कैसे हो सकते हैं। उल्लू को जैसे सूर्य भी अन्धकारमय ही दिखायी देता है, उसी प्रकार मूढ़ पुरुषों को स्वप्रकाश परमानन्द भी अंधकार सदृश प्रतीत होता है। दृष्टि के निरोध से, अथवा बादल और कोहरे के कारण सूर्य दृष्टिगोचर नहीं होता, उसी प्रकार अज्ञान से आवृत अन्तःकरण वाले प्राणियों को ब्रह्म नहीं है ऐसा प्रतीत होता है।

जैसे अमृत विष से भिन्न है, वह विष के दोषों से लिपायमान नहीं होता। उसी प्रकार मैं तो जड़ पदार्थों से भिन्न हूँ, मुझे भला जड़ सम्बन्धी दोष लिपायमान कैसे कर सकते हैं। दीपक की थोड़ी भी ज्योति जैसे बहुत से अन्धकार को नाश करने में समर्थ होती है, उसी प्रकार थोड़ा भी बोध संसार के निबिड़ अन्धकार को नाश करने में समर्थ है।

जैसे रज्जु में त्रिकाल में भी सर्प नहीं उसी प्रकार अहंकारादि जागतिक वस्तुयें देह में हैं। मैं तो अद्वय हूँ, मुझमें ये सब नहीं हैं। मैं चैतन्य स्वरूप हूँ। मुझमें जड़ता कैसे हो सकती है। मैं सत्य स्वरूप हूँ, मुझे अनृत–असत्य–का लेश कैसे हो सकता है ? मैं आनन्द तथा ज्ञान स्वरूप हूँ। मुझमें दुःख या अज्ञान कैसे आ सकता है।

इन्हीं भावों को व्यक्त करने वाली आत्मप्रबोध उपनिषद् है। जो भी कोई साधक एकाग्रचित्त से इस उपनिषद् की उपासना करेंगे, तो फिर उनकी जगत् में पुनरावृत्ति कभी भी न होगी, वे जन्म मृत्यु के बन्धनों से विमुक्त होकर अमृत तत्व को प्राप्त हो जायँगे।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! यह मैंने आपसे आत्मप्रबोध उपनिषद् कही। अब आप नारदपरिव्राजक उपनिषद् का सार श्रवण करें।"

छप्पय

आत्मज्ञान है गयो जगत–अज्ञान नसायौ।
छुधा-पिपासा दुःख परम तन हौं न भुलायौं॥
उल्लू कूँ तम सूर्य दिखावै त्यों जड़मति नर।
ब्रह्म जगत सम दिखै, छिप्यो रवि ज्यों घन भीतर॥
रज्जु माहिँ नहिँ सरप है, भ्रमवश भासै अज्ञकूँ।
त्यों जड़ जग सत्यहिँ लखै, ब्रह्म लखावै विज्ञकूँ॥

इति आत्मप्रबोध उपनिषद्-सार
समाप्त

नारद् परिव्राजक उपनिषद्-सार (१)

[३०८]

प्रवृत्तिलक्षणं कर्म ज्ञानं संन्यास लक्षणम् ।
तस्माज्ञानं पुरस्कृत्य संन्यसेदिह बुद्धिमान् ॥
(ना० प० उ० ३ म० १६ मं०)

छप्पय

नारद मुनि इक समय नैमिषारण्य पधारे।
शौनकादि मुनि पूजि विनयतैं बचन उचारे॥
मुक्ति मार्ग बतलाइ? कह्यो मुनि-व्रत गृहस्थ करि।
वानप्रस्थ संन्यास लेइ वैराग्य हिये धरि॥
बिधि सन्यासी की कहैं? बोले मुनि गृह त्यागि दें।
प्रैष मन्त्र आतुर स्वयं, अन्य सविधि सन्यास लें॥

वैदिक सनातन आर्य धर्म में वर्णाश्रम का बड़ा महत्त्व है। पारलौकिक कार्यों में वर्णाश्रम धर्म की महर्षियों ने बड़ी प्रशंसा की है। भगवत् प्राप्ति के ज्ञान, कर्म और भक्ति ये तीन मार्ग हैं। कर्म मार्ग में वैदिक कर्मों पर ही विशेष बल दिया है। उस मार्ग में स्वर्ग प्राप्ति ही एक प्रकार की मुक्ति है, कर्म मार्ग

• प्रवृत्ति लक्षण कर्म है और संन्यास लक्षण ज्ञान है। इसलिये बुद्धिमान् पुरुष को चाहिये कि ज्ञान को आगे करके सन्यास लेना चाहिये।

में संन्यास का विधान नहीं। उसमें तो जीवन पर्यन्त वैदिक यज्ञ यागादि कर्मों को करते ही रहना चाहिये। अतः कर्म मार्ग यज्ञादि कर्मों के त्याग का–संन्यास का निषेध करता है।

वर्णाश्रम धर्म मार्ग चार वर्ण, चार आश्रमों की व्यवस्था को अक्षुण्ण बनाये रखने पर बल देता है। उसके मत में शूद्रवर्ण का व्यक्ति एक गृहस्थाश्रम का वैश्य वर्ण का व्यक्ति ब्रह्मचर्य और गृहस्थ दो आश्रमों का, क्षत्रिय वर्ण का व्यक्ति-ब्रह्मचर्य, गृहस्थ और वानप्रस्थ तीन आश्रमों का और ब्राह्मण वर्ण का व्यक्ति ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास चारों आश्रमों का अधिकारी है। उनके मत में संन्यास का अधिकार केवल ब्राह्मण वर्ण के ही व्यक्ति को है। अन्य वर्ण का व्यक्ति संन्यास के लिङ्गों का धारण करता है, तो वह पतित हो जाता है।

भक्ति मार्ग तो एक प्रकार का अलिङ्ग सन्यास मार्ग ही है। वहाँ तो चाहें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र वर्ण का हो अथवा ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ अथवा सन्यासी हो भक्ति के अधिकारी सभी हैं और किसी भी आश्रम तथा किसी भी वर्ण में रहकर भगवान् को प्राप्ति नहीं कर सकता। वर्णाश्रम धर्म मे तो केवल संन्यासी ही हो सकता है। भक्तिमार्ग में ऐसा कोई प्रतिबन्ध नहीं। ब्राह्मण हो या श्वपच, ब्रह्मचारी हो या संन्यासी। जो भक्ति करेगा उसे ही भगवत् प्राप्ति होगी। जहाँ हों, वहीं रहकर भगवान् की भक्ति करके उन्हें पा सकते हैं।

ज्ञानमार्ग का सोपान वर्णाश्रम धर्म है, उसके द्वारा शनैः शनैः चढ़कर अन्त मे संन्यास लेकर ज्ञान प्राप्त करो और ज्ञान से मुक्ति। यह तो क्रम संन्यास हुआ।

एक सांख्यमार्गीय संन्यास है। उसमे क्रम आवश्यक नहीं वैराग्य आवश्यक है। जहाँ भी, जिस आश्रम में भी उत्कट

हो जाय वहीं से संन्यास ले लो। चाहे ब्रह्मचर्य हो, गृहस्थ हो अथवा वानप्रस्थ हो। जिस दिन उत्कट वैराग्य हो जाय, उसी दिन घर छोड़कर चल दो।

एक विद्वत् संन्यास होता है। शास्त्रों द्वारा निश्चय हो गया संसार मिथ्या है, स्वप्नवत है, जब विद्या के द्वारा दृढ़ धारणा हो जाय, तो फिर संस्कार हों, न हों घर छोड़कर या वनवास छोड़कर तुरन्त संन्यास ले ले।

एक आतुर संन्यास होता है। है मरणासन्न पड़े हैं। आस-पास कोई संन्यास संस्कार कराने वाला भी नहीं है, अपने आप प्रैष्य मन्त्र उच्चारण करके कह दे मैंने संन्यास ले लिया।

आज कल पन्थाई लोग भी कपड़े रँग कर संन्यासी वेप बना लेते हैं। ये सब तो ऐसे ही सट्टपट्ट हैं, कलियुग देव की कृपा है। इस नारद परिव्राजक उपनिषद् में संन्यास की विधि और उनके भेदों का वर्णन किया है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! अब मैं आपको नारद परिव्राजकोपनिषद् का सार सुनाता हूँ। इसका भद्रंकर्णे इत्यादि शान्ति पाठ है। इसमें नौ उपदेश हैं।

प्रथम उपदेश में नारदजी नैमिषारण्य में गये जहाँ शौनकादि अठासी सहस्र ऋषि द्वादशवर्षीय सत्र कर रहे थे। नैमिषारण्य निवासी मुनियों ने देवर्षि नारदजी का स्वागत सत्कार करके उनको पाद्य अर्घ्यादि से विधिवत् पूजा करके पूछा—"मुनिवर! मुक्ति कैसे हो, इसका उपाय हमें बतावें?"

इस पर नारदजी ने कहा—"सत्कुल में उत्पन्न द्विजबालक को उपनयन संस्कार कराकर चौबीस संस्कार सम्पन्न गुरु के निकट अपनी शाखा के अध्ययन पूर्वक सभी विद्याओं में अभ्यास करके बारह वर्षों तक गुरुकुल वास करके पच्चीस वर्षों तक गृहस्थ,

पच्चीस वर्ष तक वानप्रस्थ रहकर, चार प्रकार का ब्रह्मचर्य, छे प्रकार का गार्हस्थधर्म, चार प्रकार का वानप्रस्थ धर्म इन सबस निवृत्य होकर साधन चतुष्टय सम्पन्न होकर, समस्त वासनाओं ऐषणाओं से ऊपर उठकर शान्त दान्त होकर सन्यासाश्रम को धारण करके परमहस स्वरूप जो देह त्याग करता है, वही मुक्त हो जाता है।

दूसरे उपदेश में शौनकादि मुनियों ने सन्यास की विधि नारदजी से पूछा। नारदजी सभवतया पूरी न जानते होंगे, अतः सत्र को समाप्त करके आप सब ऋषियों को साथ लेकर ब्रह्म-लोक में लोक पितामह के समीप गये। सबके सम्मुख नारदजी ने ब्रह्माजी से सन्यास की विधि के सम्बन्ध में प्रश्न किया। तब ब्रह्माजी ने आप सब ऋषियों को देखकर कुछ काल मौन रहकर कहना आरम्भ किया—देखो, भैया! प्राचीन काल में ऐसा ही प्रश्न मेरे पुत्रों ने पूछा था। द्विज बालक ब्रह्मचर्य, गृहस्थ तथा वानप्रस्थों के सभी धर्मों का पालन करके अन्त में ससार से विरक्त होकर साधन चतुष्टय सम्पन्न होकर सन्यास ग्रहण करे। यहाँ द्वितीय उपदेश समाप्त होता है।

तृतीय उपदेश में नारदजी ने ब्रह्माजी से पूछा—"सन्यास का अधिकारी कौन है और सन्यास की विधि क्या है?" इस पर ब्रह्माजी ने कहा—"देखो, नपुसक, पतित, विकलाङ्ग, स्त्रैण, बहरा, बालक, गूंगा पाखडी, चक्री, लिङ्गी, वैखानस, हरद्विज, पैसा लेकर पढाने वाला, शिपिविष्ट, जिसने नियम पूर्वक अग्निहोत्र का व्रत न लिया हो ये लोग चाहें वैराग्यवान् हीं क्यों न हो सन्यास के अधिकारी नहीं हैं। महावाक्य उपदेश के अधिकारी हो सकते हैं जो दो तीन बार सन्यासी बन चुका है वह भी अनधिकारी है। ये भले ही अन्त में आतुर सन्यास ले सकते

हैं। अब प्रश्न यह है, कि आतुर संन्यास क्या? आतुरकाल आर्य सम्मत कौन-सा है?"

इस पर बताते हैं—"जब प्राण निकलने ही वाले हों उसी समय का नाम आतुर है। और कोई भी मुक्ति मार्ग प्रवर्तक आतुर काल नहीं है। आतुर काल में भी सम्भव हो तो मंत्र-तंत्र पुरः सर ही संन्यास लेना चाहिये। प्रैषमन्त्र आवृत्ति करके विधिवत् संन्यास ग्रहण करना चाहिये। आतुर क्रम में भी किसी प्रकार का प्रैषभेद नहीं है। कर्म रहित मन्त्र नहीं होता। कर्म जो है मन्त्र की अपेक्षा रखता है। मन्त्र रहित अकर्म है, अतः कर्म हीन मन्त्र को त्याग दे। जो मन्त्र के बिना कर्म करता है मानों वह बिना अग्नि के केवल भस्म में ही हवन करता है। अब विधिपूर्वक आतुर संन्यास की विधि बताते हैं। उसमें प्रैषमन्त्र की आवृत्ति की विधि है।

जिसने जीवन भर नियम से अग्निहोत्र कर्म किया हो। अथवा विरक्त होकर देशान्तर में चला गया है तो प्राजापत्य जो अग्नि है उसे मन के ही द्वारा जल में विसर्जन करके संन्यास धारण करे। मन से ही अथवा शास्त्रों में जैसी विधि बतायी है उस प्रकार मन्त्र की आवृत्ति करके जल में संन्यास धारण करे। अथवा श्रुति अनुष्ठान मार्ग द्वारा कर्मानुष्ठान को समाप्त करके ही संन्यास ले, नहीं तो वह पतित हो जायगा।

देखो, जब संसार की समस्त वस्तुओं से हार्दिक वैराग्य हो गया हो तभी संन्यास लेना चाहिये। यदि किसी भी वस्तु में तनिक राग रह गया है और उसने संन्यास ले लिया है तो वह पतित हो जायगा। जो सब प्रकार से संसारी पदार्थों से सर्वथा विरक्त हो गया हो उसे ही संन्यास लेना चाहिये। यदि तनिक भी आसक्ति हो, तो उसे घर में ही रहना चाहिये। जो अधम-

द्विज सराग होने पर भी सन्यास ले लेता है, वह निश्चय ही नरक में जाता है।

वैसे सन्यास तो ब्रह्मचर्य, गृहस्थ और वानप्रस्थ के अनन्तर ही लेना चाहिये, किन्तु जिस ब्रह्मचारी की जिह्वा, उपस्थेन्द्रिय, उदर और हाथ अपने वश में हो, उसे बिना विवाह किये ब्रह्मचर्याश्रम से ही सन्यास लेने का अधिकार है। जिसे यह दृढ निश्चय हो गया हो, कि यह ससार निस्सार है, इसमे सारतत्त्व क्या है? इसे देखने को बिना विवाह किये भी वैराग्य पूर्वक सन्यास ग्रहण कर लेना चाहिये। क्योंकि कर्म प्रवृत्ति लक्षण है, ज्ञान सन्यास लक्षण है। इसलिये बुद्धिमान् पुरुष को चाहिये कि ज्ञान का आश्रय लेकर सन्यास ले लेना चाहिये। जब सनातन परब्रह्म तत्त्व विदित हो जाय, तब शिखा सूत्र का भी परित्याग करके एक दण्ड धारण करके सन्यास ग्रहण कर लेना चाहिये।

सब कोई भिक्षा के अन्न का अधिकारी नहीं। जो परमात्मा में तो अत्यन्त अनुरक्त हो और ससारिक वस्तुओं से सर्वथा विरक्त हो। वित्तैषणा, पुत्रैषणा तथा लोकैषणाओं से भली भाँति विनिर्मुक्त हो, वास्तव में वही भिक्षा के अन्न का खाने का अधिकारी है। जो पूजित वन्दित होने पर जैसे प्रसन्न हो वैसे ही मार खाने पर भी जिसके मन मे लेशमात्र भी क्रोध न आवै वही भिक्षान्न भोगी होने का अधिकारी है।

धृति, क्षमा, दम, अस्तेय, शौच, इन्द्रिय निग्रह, धी, विद्या, सत्य और अक्रोध इस दश लक्षण वाले धर्म में रहता हुआ, विविध वेदान्त वाक्यों को सुनकर देवऋण, ऋषि ऋण और पितृ ऋण इन तीनों ऋणों से उऋण होकर तब सन्यास धारण करे। सुख दुःख की चिन्ता छोडकर समभाव में रहकर दो कौपीन, एक कन्था, एक दण्ड, एक कमडलु इससे अधिक सग्रह न करे।

इससे अधिक संग्रह करेगा, तो रौरवादि नरकों में जाकर गिरेगा। अकेला रहे, चलता रहे, वर्षा काल में एक स्थान पर बसे, दुर्गुणों का सर्वथा त्याग करे। वासनाओं को निकाल दे, किसी का अपमान न करे, केवल काम की बात बोले, निरपेक्ष निराशिष रहे, इन्द्रियों का निरोध करता रहे। देह में आसक्ति न करे, शरीर को नाशवान, क्षणभंगुर मानकर इसमें ममता न करे, अपने को मृत समझे, काल की प्रतीक्षा करता रहे। भिक्षा के लिये, मल-विसर्जन के लिये जाय नहीं, अपने ध्यान में बैठा रहे। एक योजन से अधिक चले नहीं,

जिस दिन वैराग्य हो जाय, उसी दिन सर्वस्व त्याग दे।

इसके अनन्तर कैसे संन्यास लेना चाहिये इसकी विधि बतायी। इस प्रकार हवनादि करके बाहर के सूत्र का परित्याग कर, ज्ञान का यज्ञोपवीत पहिन, ज्ञान की शिखा रख ले। मैं ब्रह्म हूँ ऐसी धारणा सदा रखे। ब्रह्मरूप प्रणव को सदा स्मरण रखे। भ्रमर कीट न्याय से स्थूल, सूक्ष्म और कारण तीनों शरीरों की ममता का सर्वथा परित्याग करके अपने को आत्मानुभव करे। जो इस प्रकार संन्यास द्वारा देहत्याग करता है, वह कृतकृत्य हो जाता है।

अब चौथे उपदेश में यति संन्यासी के धर्मों का वर्णन है। संन्यासी को चाहिये अपना पुराना नाम, गोत्र,देश,काल,विद्वत्ता, कुल, अवस्था, पूर्व वृत्तान्त, शील आदि बताकर अपनी प्रतिष्ठा न बढ़ावे। स्त्री चर्चा न करे, चिकित्सा, आशीर्वाद-स्वागत, तिरस्कार, समस्त प्राचीन सम्बन्धों को त्याग दे। बिना संकल्प के इधर-उधर घूमता रहे। किसी विधि विधान के बंधन में न बँधे। संन्यास का मुख्य कारण ज्ञान है। लिङ्ग मुख्य कारण नहीं है। इस प्रकार ब्रह्माजी ने विस्तार के साथ संन्यासियों के धर्मों को बताया है।

तब नारदजी ने सन्यास की विधि पूछी। इस पर ब्रह्माजी ने सन्यास की समस्त विधि बतायी, कैसे प्रायश्चित्त करे, कैसे देवता ऋषि और पितरों का तर्पण करे, कैसे और किन-किन मन्त्रों से हवन करे। फिर किन मन्त्रों से यज्ञोपवीत का परित्याग करे, किससे शिखा का त्याग करे। इस प्रकार चौथे उपदेश में क्रम क्रम से सन्यास की सभी विधियों को बताया है। फिर कटि सूत्र, कौपीन, वस्त्र धारण करके, योगपट्ट गुरु का दिया सन्यास का नाम धारण करे। इस प्रकार सविधि सन्यास लेकर अपने को कृतार्थ हुआ माने।

पाँचवें उपदेश में सन्यासियों के भेद बताये हैं। चार प्रकार के सन्यासी होते हैं। (१) वैराग्य संन्यास, (२) ज्ञान संन्यास, (३) ज्ञान-वैराग्य सन्यास और (४) कर्म संन्यास। पूर्वजन्मों के पुण्यों के प्रभाव से यह दुष्ट कामदेव शरीर को पीड़ा न पहुँचाता हो, हृदय में विषयों के प्रति स्वाभाविक आसक्ति न हो। विषयों में वैराग्य होने से सन्यास होता है उसे वैराग्य सन्यास कहते हैं। शास्त्रों के श्रवण मनन निदिध्यासन से, लोक के अनुभव से इस दृश्य प्रपञ्च से उपराम हो जाय, दुर्गुणों से चित्त हट जाय तीनों ऐषणायें मन से निकल जायें, देह, शास्त्र तथा लोक की वासनायें निवृत्त हो जायँ। ससार के समस्त भोगों का वमन किये हुए अन्न की भाँति त्याग हो जाय तथा साधन चतुष्टय सम्पन्न होकर जो सन्यास लेते हैं वह ज्ञान सन्यास कहाता है। दोनों से मिला जुला ज्ञान वैराग्य सन्यास है जो क्रम-क्रम से ब्रह्मचर्य, गृहस्थ और वानप्रस्थ सम्बन्धी कर्मों को करते करते, ज्ञान वैराग्य विशेष न होने पर भी शास्त्रीय विधि का पालन करते हुए जो कर्मों का परित्याग करता है वह कर्म सन्यासी कहलाता है।

ब्रह्मचर्य से ही वैराग्य के कारण विवाहादि न करके अग्नि के

समान तेजस्वी जो संन्यासी हो जाता है वह भी वैराग्य संन्यासी है।

इस प्रकार विद्वत् संन्यासी, ज्ञान संन्यासी, विविदिषा संन्यासी, कर्म संन्यासी अनेक भेद हो जाते हैं।

कर्म संन्यासी भी दो प्रकार के होते हैं। एक निमित्त संन्यासी, दूसरे अनिमित्त संन्यासी। निमित्त तो यह मृत्यु समीप आ गयी है ज्ञान भी नहीं हुआ तथापि आतुरावस्था में कर्मों का त्याग कर संन्यासी हो गये यह आतुर संन्यास निमित्त संन्यास कहलाता है।

अनिमित्त कर्म संन्यास यह है कि ब्राह्मण शरीर है, सविधि चारों वेदों को पढ़कर दारा ग्रहण करके अग्निहोत्र की दीक्षा ली। समय आने पर वानप्रस्थी होकर घर छोड़कर सपत्नीक वन चले गये। वहाँ घोर तपस्या करके वानप्रस्थ धर्मों का पालन किया, फिर भी ज्ञान नहीं हुआ तो भी कर्म त्याग दिये,संन्यास ले लिया तो यह अनिमित्त कर्म संन्यास कहलाता है।

इनके अतिरिक्त संन्यासियों के ६ भेद और बताये हैं। (१) कुटीचक, (२) बहूदक, (३) हंस, (४) परमहंस, (५) तुरीयातीत और (६) अवधूत।

(१) कुटीचक—संन्यासी वे कहलाते हैं-जो शिखा, सूत्र धारण किये रहें। दण्ड कमंडलु लिये रहें, कौपीन कन्था धारे रहें, पिता, माता तथा गुरुजनों की सेवा में संलग्न रहें, पिठर, खन्त्री, छींका लिये रहें। मन्त्राराधन में तत्पर रहें, एकत्र अन्न को खाने वाले, श्वेतवस्त्र धारी ऊर्ध्व पुंड्र और त्रिदण्ड धारण करने वाले हों।

(२) बहूदक—बहूदक संन्यासी वे कहलाते हैं-जो शिखा,

सूत्र, कन्था, त्रिपुण्ड्र धारे। मधूकरी करके आठ ग्रास नित्य खायँ,

(३) हंस—हंस वे सन्यासी हैं, जो जटा धारण करें। त्रिपुंड्र या ऊर्ध्वपुण्ड्र लगावें। अयाचित या मधुकरी वृत्ति धारी, कौपीन खण्ड तुण्ड धारी हों।

(४) परमहंस—परमहंस सन्यासी वे कहलाते हैं जो शिखा यज्ञोपवीत से रहित हों, पाँच घरों से भिक्षा माँगकर खाकर एक रात्रि एक स्थान पर निवास करते हों। कर को ही पात्र बनाने वाले करपात्री हों। एक कौपीन रखते हों। एक शाटी या बाँस का दण्डा रखे। सम्पूर्ण शरीर जिनका भस्म से उद्धूलित हो। जो सर्वत्यागी हों।

(५) तुरीयातीत—तुरीयातीत सन्यासी वे कहलाते हैं जो फलाहार करके ही रहते हों। अन्नाहार करते हों तो केवल तीन घरों से देह रक्षार्थ भिक्षा करते हों। वस्त्र न पहिन कर दिगम्बर रहते हों। जो अपने शरीर को मृतक शरीर मानकर वृत्ति चलाते हों।

(६) अवधूत—अवधूत वे सन्यासी कहलाते हैं, जो विधि निषेध से परे हों, अत्यन्त पतित अभिशप्तादि महानीचों को छोड़कर सर्ववर्णों का खा लेते हों। किसी से खाने को न माँगते हों, अजगर वृत्ति में रहते हों। सदा स्वरूपानुसन्धान में तत्पर रहते हों।

आतुर सन्यासी यदि जीवित रह जाय, तो उसे फिर से क्रम सन्यास लेना चाहिये। कुटीचक, बहूदक और हंस ये जो तीन प्रकार के सन्यासी हैं इनके लिये ब्रह्मचर्य से जैसे सन्यास लेते हैं उसी प्रकार की सन्यास विधि है।

परमहंस,तुरीयातीत और अवधूतों के लिये न तो कौपीन, न

कटि सूत्र, न दण्ट न कमंडलु। जैसे अग्नि में जो भी डाल दो वह स्वाहा हो जाता है उसी प्रकार परमहंस, तुरीयातीत और अवधूतों को सभी वर्णों वालों के यहाँ भिक्षा कर लेनी चाहिये। संन्यास अवस्था में भी जब तक ज्ञान से मन न भरे तब तक अध्ययन करते रहना चाहिये। जब मन भर जाय, तब कटिसूत्र, कौपीन, दण्ड, कमण्डलु आदि सबको जल में विसर्जित करके अग्नि के समान स्वच्छन्द विचरण करे। पढ़ना पढ़ाना, सुनना सुनाना सबको त्याग दे। केवल प्रणव का ही जप करता रहे। किसी से विशेष बातें न करे। विशेषकर स्त्री, शूद्र, पतित तथा रजस्वलादि से बातें न करे. मरते समय जिस-जिस भाव का स्मरण करेगा, वही-वही प्राप्त होगा। अतः संन्यासी को सदा सर्वदा स्वरूपानुसन्धान ही करते रहना चाहिये।

संन्यासी बालक, उन्मत्त, पिशाच वत व्यवहार करे। अपने को मृतक वत समझकर काल की प्रतीक्षा करे। जो संन्यासी तितिक्षा, ज्ञान वैराग्य तथा शमदमादि सद्गुणों से वर्जित है। केवल भिक्षा से ही अपनी जीविका चलाता है, वह संन्यासी अन्य संन्यासियों की वृत्ति को नष्ट करने वाला है। देखो, न तो दण्ड धारण मात्र से, न मूँड मुँडा लेने से हो, न वेष बना लेने से तथा न दम्भाचरण से ही मुक्ति सम्भव है। वास्तव में एक दण्डी वही है जिसने ज्ञान रूप दण्ड को धारण कर रखा है। जिसने काठ का दण्ड तो धारण कर लिया है ज्ञान का दण्ड नहीं लिया वह संन्यासी नहीं वह तो ज्ञान वर्जित सर्वभक्षी है। ऐसे नाम मात्र के संन्यासी रौरवादि घोर नरकों में जाते हैं। प्रतिष्ठा सूकरी विष्ठा के सदृश है इसलिये इस प्रतिष्ठा का परित्याग करके यति को कीड़े की भाँति भ्रमण करते रहना चाहिये। जो भी भिक्षा में अयाचित रूप से मिल जाय उसी को खा ले। किसी ने

वस्त्र दे दिया तो पहिन ले, किसी ने नहाने को कह दिया तो नहा लिया। नहीं कुछ मिला तो दुखी नहीं, मिल गया तो हर्ष नहीं। केवल प्राणों को धारण करने के लिये ही जो खाता है वही यति है।

जहाँ कहीं शून्य घर में, मठ मन्दिर में, वृक्ष के नीचे स्थान मिल जाय, वहीं पड़ रहे। प्रिय अप्रिय का विचार न करे। यति को चाहिये वह दान्त और जितेन्द्रिय रहे तथा जो मिल जाय उसी से सन्तुष्ट रहे। सभी प्राणियों को अभय प्रदान करके यति विचरता है, उसे किसी भी प्राणी से भय नहीं होता। यति को निर्मान, निरहंकार, निर्द्वन्द्व तथा संशय रहित होना चाहिये। न तो किसी पर कुपित हो, न किसी से द्वेष करे और न झूठ ही बोले।

लोगों को इकट्ठा करने का प्रयत्न न करे, असत् शास्त्रों को पढ़े नहीं। जीविकोपार्जन के लिये कोई व्यापार न करे। वाद विवाद न करे। किसी एक पक्ष को लेकर विवाद न करे। शिष्यों को न बनावे, बहुत से ग्रन्थ न पढ़े, व्याख्यान न दे। अनारम्भ कार्यों का आरम्भ न करे। ऊपरी चिन्हों को छिपाये रहे, उन्मत्त तथा बालकों की भाँति गूढ़भाव से विचरता रहे। आत्म क्रीड, आत्मरति, आत्मवान् तथा समदर्शी होकर अकेला ही निःसंग और जितेन्द्रिय होकर घूमता रहे, भिक्षान्न को ही खाय, एक ही का अन्न न खाता रहे। ऐसा करने से चित्त शुद्धि होती है। चित्त शुद्ध हो जाने पर निःसग होकर विचरे। मौन होकर रहे, वायु की भाँति निर्लेप होकर रहे। सुख दुःख में समभाव रखे। हाथ में जो आ जाय, उसे उदर मे रख ले। निर्वैर होकर ब्राह्मण, घोड़ा, मृग तथा सभी जीवों में समभाव रखे। मन से स्मरण करता रहे। उन परमात्मा, ईश्वर, चिन्मय, ५६

मन से भावना करता रहे और यह दृढ़ धारणा करे कि मैं ब्रह्म हूँ।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! इस प्रकार पाँचवें उपदेश में संन्यासी मुनियों के धर्म बताये। अब आगे और भी जो संन्यासियों के कर्तव्य हैं, उनका वर्णन किया जायगा।"

छप्पय

संन्यासी सब त्यागि ब्रह्म में चित्त लगावै।
सबई दुर्गुण त्यागि मोह ममता बिसरावै॥
भिच्छा करि कें खाइ करै नहिँ संग्रह कबहूँ।
करैं दुष्ट अपमान दुखी होवै नहिँ तबहूँ॥
ज्ञान दण्ड धारन करैं, संसारी सब सुख तजै।
देह मृतक सम जानिकें, ब्रह्मभाव ही नित भजै॥

नारद परिव्राजक-उपनिषद्-सार (२)

[३०६]

न स्नान न जपः पूजा न होमो नैव साधनम् ।
नाग्निकार्यादि कार्यं च नैतस्यास्तीह नारद ॥*

(ना० प० उ० ६ उ० ३३ म०)

छप्पय

विधि निषेध तैं परे मान अपमान एक सम ।
जग खटपटतैं परे देह में नहीं अहं मम ॥
सबई असत् पदार्थ ब्रह्म ही सत्य कहावै ।
जित देखो तित ब्रह्म ब्रह्म सरबत्र लखावै ॥
ब्रह्म भावना करें तैं, अन्त ब्रह्म बनि जायगो ।
भृङ्गी कीटक न्याय तैं, ब्रह्म भाव कूँ पायगो ॥

हम कर्मों को अहंकार के वशीभूत होकर स्वभाववश प्रकृति की प्रेरणा से करते हैं। वैसे कर्म बन्धन के कारण हैं। रेशम का कीड़ा अपने मुख से सूत्र निकाल निकालकर अपने चारों ओर लपेटता जाता है। उसे सूत्र निकालने और लपेटने में क्या सुख मिलता है, उसे तो वही जाने, किन्तु उसके ये कर्म उसकी मृत्यु

---

* सन्यासी के लिये विधि से बंधकर स्नान, जप, पूजा पाठ, होम तथा अन्य किसी भी प्रकार के साधन न करने चाहिये। अग्निहोत्रादि जो अग्नि सम्बन्धी वैदिक कर्म हैं, वे भी सन्यासी के लिये आवश्यक नहीं हैं।

के कारण होते हैं। उसे भट्टी में उबालते हैं, वह बँधा हुआ ही मर जाता है। रेशम निकालने वाले उसके ऊपर के सूत्र को निकाल लेते हैं। सूत्र बनाने वाले, कर्म करने वाले कीड़े के मृतक शरीर को फेंक देते हैं। प्रकृति के नियमानुसार रेशम का कीड़ा सूत्र निकालने और उसे अपने चारों ओर लपेटने में विवश है। इसी प्रकार यह जीवात्मा अनादि कर्म वासनाओं के कारण कुछ-न-कुछ करते रहने के लिये विवश है। फल के हेतु से कर्म करता है, वे कर्मफल संचित होते रहते हैं, उसके स्थायी कोश में एकत्रित रहते हैं। कोई अव्यक्त शक्ति उन सब कर्मों का लेखा-जोखा रखती रहती ह। उन संचित कर्मों में से एक जन्म को भोगने के लिये जो कर्म दे दिये जाते हैं, उन्हीं का नाम प्रारब्ध कर्म है। उन कर्मों को देते समय उस जन्म की मिलने वाली आयु, विद्या, धन, मृत्यु-तिथि और कौन-कौन से कर्म इसे करने हैं इन बातों का निर्णय पहिले से ही हो जाता है। उन्हीं के अधीन होकर जीव कर्मों में प्रवृत्त होता है, उसे शरीर में अहंभाव हो जाता है। अहंभाव के वशीभूत न होकर यदि कर्म करे तो वे कर्म बन्धन के कारण नहीं बनते। बन्धन का मुख्य कारण कर्म नहीं अहंकारपूर्वक करना ही मुख्य कारण है। शरीर में आत्मबुद्धि होने पर अहंकृति आ ही जाती है। जीव के चारों ओर ऐसे जाल बिछे हैं, कि स्तम्भ, अहंकार, अहंभाव आ ही जाता है।

जैसे उत्तम कुल में जन्म हुआ, तो उस परम्परा में जितने लोग हुए हैं, उनका अहंभाव चारों ओर चिपटा रहता है। मेरे पूर्वज ऐसे थे, वैसे थे, ऐसा उनका सम्मान था, ऐसी उनकी प्रतिष्ठा थी। मनुष्य की आयु ज्यों-ज्यों बढ़ती जाती है, कुलाभिमान भी उसके साथ बढ़ने लगता है।

कर्म स्वयं अभिमान बढ़ाने में एक कारण हैं। बुरे कर्मों से

जैसे बुरा अभिमान बढ़ता है, वैसे ही अच्छे कर्मों से भी अच्छा अभिमान बढ़ता है। बन्धन तो चाहे मूँज की रस्सी का हो या रेशम के लच्छों का हो बन्धन ही है। अतः कर्मों से भी अभिमान की स्तम्भ की वृद्धि होती है।

बालकपन में उतना अभिमान नहीं होता। अन्त्यज-बालक और वेदपाठी-बालक साथ-साथ खेलेंगे खायँगे। ज्यों-ज्यों अवस्था बढ़ती जाती है साथ ही अभिमान भी बढ़ता जाता है। युवावस्था में तो अभिमान बढ़ते-बढ़ते पराकाष्ठा पर पहुँच जाता है, अतः युवावस्था भी अभिमान् वृद्धि में कारण है।

सौन्दर्य का भी बड़ा अभिमान होता है, युवावस्था में आकर सौन्दर्य निखर उठता है। कैसी भी कुरूपा लड़की हो युवावस्था में उसे भी अपने सौन्दर्य का अभिमान होने लगता है। "प्राप्ते तु षोडशे वर्षे गर्दभी अप्सरायते।"

विद्या का अभिमान भी कम नहीं होता। विद्वत्ता अभिमान वृद्धि में प्रधान कारण है। और धन ऐश्वर्य के अभिमान के सम्बन्ध में तो कहना ही क्या है। धनी-मानी ऐश्वर्यशाली तो अभिमान में दुर्मदान्ध ही हो जाते हैं। इन सब अभिमानों के वशीभूत हुआ जीव विवश होकर कर्मों में प्रवृत्त होता है और अपने संसार बन्धन को और भी दृढ़, दृढ़-से दृढ़तर और दृढ़तर से भी दृढ़तम करता रहता है। जिनके पूर्वजन्मों के सुकृत अत्यधिक हैं। जिन्होंने अनेकों जन्मों मे तपस्या, यज्ञ, दान, धर्म आदि सुकृत ही कर्म किये हैं, उन्हे संसारी कर्मों से वैराग्य होता है, वे जीवन्मुक्त या अनुग्रह सृष्टि के जीव हैं। वे फिर संसारी बन्धनों में नहीं बँधते। सृष्टि के मनुष्यों की पहिचान क्या है? अनुग्रह सृष्टि वालों के सिर पर कोई सींग तो होते नहीं, उनके कर्मों से ही जाना जा सकता है, कि ये प्रभुकृपा-पात्र अनुग्रह

सृष्टि के जीव हैं। जिनका जन्म सत्कुल में हुआ हो, जो शुभ-कर्मों में ही लगे रहते हों, जिनकी युवावस्था हो, और सौन्दर्य भी अनुपम हो, अगाध विद्या हो, अपार धन ऐश्वर्य हो इतना सब होने पर भी जिन्हें अभिमान छू भी न गया हो, तो समझो ये अनुग्रह सृष्टि के जीव हैं। ऐसे पुरुष चाहें घर में रहें या वन में उनका पुनर्जन्म नहीं होता।

जीवन्मुक्त कौन हैं ? जिनका संसारी वस्तुओं में अनुराग न होकर भगवान् के चरणारविन्दों में अनुराग हो। जिन्हें संसार के जन्म, मृत्यु, रोग शोकों आदि को देखकर क्षण-क्षण में जगत् से विराग होता रहता हो। जिनकी दृष्टि में सुन्दरी-से-सुन्दरी स्त्री और पाषाण की शिला में कुछ भी अन्तर न दिखायी देता हो। जिनकी दृष्टि में अपने माता, पिता, भाई बन्धुओं में और अन्य पुरुषों में तनिक भी भेदभाव दृष्टिगोचर न होता हो, जिन्हें शान्त एकान्त-जन संसर्ग से रहित स्थान अच्छा लगता हो, समझो ये जीवन्मुक्त पुरुष हैं, इनका पुनः संसार में जन्म न होगा। ऐसे लोग चाहें संन्यासी का वेष धारण करें, वन में रहें या घर में, अग्निहोत्र करें या न करें। सफेद वस्त्र पहिनें या काषायाम्बर धारण करें। वे संसार से परे हैं। जीवों की न जाने कितने जन्मों की कर्मवासनायें भरी पड़ी हैं। क्षणिक वैराग्य होने पर लोग वेष बना लेते हैं। फिर वेष को कलंकित करने को नाना प्रकार के व्यवसाय व्यभिचार करने लगते हैं। कर्मों से विराग बहुत ही भाग्यशालियों को होता है। न जाने हमने कितनी बार मातृयोनि से जन्म ग्रहण किये हैं। उसमें होकर आने जाने का न जाने कितने जन्मों का अभ्यास पड़ा है। उस जन्म-भूमि का आकर्षण जिसे न हो वह पुण्य पुञ्ज सुकृति पुरुष जीवन्मुक्त है! अनुग्रह सृष्टि का जीव है। वास्तविक संन्यासी

तो वही है। विधिपूर्वक किया हुआ संन्यास तो संन्यास का अनुकरण है, अभ्यास के लिये अक्षर लिखने के समान है। यदि सचाई के साथ शुद्ध अन्तःकरण से किया जाय, तो यह भी आवश्यक ही है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! संन्यासी को चाहिये श्वास-प्रश्वास पर हंस मन्त्र का जप करता रहे। सन्यासी को जहाँ सम्मानपूर्वक अच्छी स्वादिष्ट भिक्षा मिले, वहाँ वसे फिर नहीं जाना चाहिये। जब सब लोग खा चुकें, चूल्हे की अग्नि बुझ जाय तब मधुकरी के लिये गृहस्थों के द्वार पर जाय। परतत्त्व से परिचय करे वास्तव में वही सन्यासी है। यह इस वर्ण का है, यह इस आश्रम का है ऐसे परिचय तो माया द्वारा कल्पित हैं। संसार के सभी कार्यों मे, सभी पदार्थों में सदा दोष दृष्टि ही देखता रहे। अपना लक्ष्य एकमात्र आत्मा को ही बना ले। निर्दोष तो केवल ब्रह्म ही है परमात्मा ही है। ऐसी भावना सदा रखा करे। संसारी लोगों का संग, ससार में फँसाने वाले नृत्य गीतादि कार्य, ससारी सम्बन्ध, संसारी व्यवहार, संसारी वार्तालाप इन सबको सदा दूर से ही त्याग दे। यति को चाहिये ससारी व्यवहारों से सदा उदासी बना रहे। नित्य अन्तर्मुख बना रहे। किसी की स्तुति नहीं, किसी का नमस्कार प्रणाम नहीं, स्वाहाकार, स्वधाकार से रहित बना रहे। ये घर महल सब चलाचल हैं, अतः इन सबसे विरक्त होकर वृक्ष के नीचे बैठकर चुपचाप जीवन बिता दे। इस प्रकार छठा उपदेश समाप्त हुआ।

अब सातवें उपदेश मे नारदजी ने यतियों के नियम पूछे। तो पितामह ने फिर वे ही बातें दुहरायीं। चार महीने वर्षात् के एक स्थान में रहे, आठ महीने घूमता रहे। एकाकी रहे, घूमता रहे, हाथों द्वारा नदी पार न करे, माधुकरी वृत्ति से निर्वाह करे,

शरीर को मोटा न होने दे। कृश बना रहे। घृत को रुधिरवत त्याग दे, एक के अन्न को मांसवत् समझे। गन्ध लेपन को मलवत् जाने, क्षार को अन्त्यज के समान, वस्त्र को उच्छिष्ट पात्र के समान, तैल मर्दन को स्त्री प्रसंगवत्, मित्रों आल्हाद को मूत्रवत, लौकिक स्पृहा गोमांसवत, जाने पहिचाने देश को चाण्डाल वाटिका के समान, स्त्री को सर्प के समान, सुवर्ण को कालकूट विष के सदृश, सभास्थल को स्मशान के समान, राजधानी को कुंभी पाक नरक के समान, एकत्र किये अन्न को शव पिंड के समान, देशान्तर दर्शन को प्रपञ्चवृत्ति माने। एकरात्रि से अधिक ग्राम में निवास न करे। नगर में, धर्मक्षेत्र में तथा तीर्थ में पाँच रात्रि रह सकता है। निरन्तर अपने स्वरूप का चिंतन करता रहे। इस प्रकार संन्यासियों के धर्म बताकर कुटीचक, बहूदक, हंस, परमहंस, तुरियातीत और अवधूतों के तिलक, पूजन, प्रणव, उपासना आदि के सम्बन्ध में बताकर सप्तम उपदेश समाप्त किया गया है।

अष्टम उपदेश में नारदजी ने ब्रह्माजी से संसार तारक मन्त्र के सम्बन्ध में पूछा। इस पर ब्रह्माजी ने कहा—"देखो, भैया! ओम् जो मन्त्र है वह व्यष्टि और समष्टि दो प्रकार का है। फिर इसके संहार प्रणव, सृष्टि प्रणव और उभयात्मक प्रणव इस प्रकार ब्रह्म प्रणव तीन प्रकार का है। जिसका प्रयोग व्यवहार में किया जाता है। वाह्यप्रणव आर्ष प्रणव है। उभयात्मक प्रणव विराट् प्रणव है। संहार प्रणव तो ब्रह्म प्रणव और अर्धमात्रा प्रणव है। ओम् यही ब्रह्म है।

ओम् जो एकाक्षर है उसे अन्तः प्रणव जानो। वह अन्तः प्रणव आठ प्रकार का है। (१) अकार, (२) उकार, (३) मकार, (४) अर्धमात्रा, (५) नाद, (६) बिन्दु, (७) कला और (८) शक्ति

इन भेदों से। इनमें से अकार चार अवयव वाला, दश सहस्र अवयव वाला उकार, सहस्र अवयव वाला मकार, सौ अवयवों से युक्त अर्धमात्रा, तथा प्रणव अनन्त अवयव वाला है। सगुण विराट् प्रणव है, संहार निर्गुण प्रणव है, उभयात्मक उत्पत्ति प्रणव है। यथाप्लुत विराटप्लुत है, प्लुत संहार विराट् प्रणव है वह प्रणव षोडशमात्रात्मक तथा छत्तीस तत्त्वों से अतीत है। षोडश मात्रात्मक कैसे है ? इसे गिनाते हैं—(१) अकार, (२) उकार, (३) मकार, (४) अर्धमात्रा, (५) नाद, (६) बिन्दु, (७) कला, (८) कलातीता, (९) शान्ति, (१०) शान्त्यतीता, (११) उन्मनी, (१२) मनोन्मनी, (१३) पुरी, (१४) मध्यमा, (१५) पश्यन्ती और (१६) परा। इस प्रकार षोशमात्रात्मक कहा है। इस प्रकार ओंकार के नाना भेद बताकर ओंकार को ही मोक्षदायक बताया है। उस परब्रह्म को अलक्षण, अग्राह्य, अव्यवहार्य, अचिन्त्य, अव्यपदेश्य, एकात्म प्रत्ययसार, प्रपञ्चोपशम, शिव, शान्त, अद्वैत, चतुर्थ अर्थात् वह तुरीय है, वह ब्रह्म प्रणव ही है। उसी को तीनों अवस्थाओं से परे तुरीय जानना चाहिये। जैसे सभी प्राणियों का सूर्य आधार है उसी प्रकार मुमुक्षुओं का प्रणव आधार है। स्वयं ज्योति ब्रह्माकाश सर्वदा विराजमान रहता है। प्रणव ही परब्रह्म है इस प्रकार आठवाँ उपदेश समाप्त हुआ।

अब नवम उपदेश में नारदजी ने ब्रह्माजी से ब्रह्म के स्वरूप के सम्बन्ध में प्रश्न किया। इस पर लोक पितामह ब्रह्माजी ने कहा—"क्या व्यर्थ का प्रश्न कर रहे हो। ब्रह्म तो स्वरूप से रहित है, उनके स्वरूप को क्या बतावें। जो कहते हैं मैं अन्य हूँ, तुम अन्य हो यह तो पशु बुद्धि है। उसमें पशु स्वभाव नहीं है। अतः उस परब्रह्म को अरूप जानकर विद्वान मृत्यु के मुख से छूट जाता है। उसे प्राप्त करने का दूसरा कोई मार्ग है ही नहीं।

देखो, काल, स्वभाव, नियति-यदृच्छा प्राणियों की योनिः पुरुष ये क्या हैं, इन बातों का विचार करना चाहिये। संयोग से ये सब एकत्रित हो जाते हैं, आत्मा में ये सब कुछ नहीं हैं। सुख दुख का हेतु तो यह अनीश शरीर ही है। अपने गुणों से निगूढ़ जो आत्मशक्ति है उसे विवेकी पुरुष ध्यानयोग के द्वारा देखते हैं। यह जो आत्मा है समस्त कारणों को जानने वाला है, वह एक ही कालात्मक होकर स्थित है।

वही एक परमात्मा त्रिवृत होकर पहिले सोलह रूप में सौ आर की धार वाला, वीस प्रत्यरा वाला है। आठ और छैः करके विश्व के रूप में एक जाल बना है। इसमें तीन मार्ग भेद हैं, दो निमित्त हैं एक मोह है। यह संसार पाँच सोतों द्वारा बहने वाले जल के सदृश है। पाँच योनियाँ ही इसके उग्र मुख हैं। पाँच प्राण ही इस संसार रूप नदी की लहरें हैं। पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ ही इसका मूल हैं। पाँच इसके आवर्त हैं, पाँच प्रकार के दुःख ही इसके प्रबल वेग हैं। इस पञ्चपर्वा अविद्या के इस प्रकार पचास भेद का हम अध्ययन करते हैं।

सर्वाजीव में सर्व संस्थाओं में तथा इस ब्रह्म चक्र में यह अकेला हंस रूप जीव भ्रमण करता रहता है। इन शरीरों से पृथक प्रेरित करने वाला आत्मा है, ऐसा जो जान जाता है, वह अमृतत्व को प्राप्त कर लेता है। यह एक प्रकार का वेद का उद्गीथ है इसमें परब्रह्म परमात्मा प्रणव रूप तीन अक्षरों वाला है। अर्थात जड़ तत्त्व अनीश्वर तत्त्व पृथक चैतन्य स्वरूप प्रणव परब्रह्म उससे सर्वथा पृथक है। इन दोनों के अन्तर को जानकर वेदज्ञ पुरुष परब्रह्म में लीन हो जाता है।

देखो क्षर और अक्षर दोनों मिल गये हैं। उसे व्यक्त अव्यक्त कह लो। जो अनीश आत्मा जीव है वह अहंकृति

के कारण भोग बुद्धि से बन्धन मे बँध जाता है। किन्तु उस पर-तत्त्व देव को जब जान जाता है, तो सभी प्रकार के बन्धनों से मुक्त हो जाता है। देखो, एक तो ज्ञ है एक अज्ञ है, एक जीव है एक ईश है। एक भोक्ता है एक भोगार्थ युक्त है। आत्मा अनन्त है, विश्वरूप है, अकर्ता है। इन तीनों भावों को जान लेने पर ब्रह्म को प्राप्त हो जाता है। प्रधान जो प्रकृति है वह क्षर है और जो अमृत है वह अक्षर है। वे हर परब्रह्म ही अक्षर हैं, उनके ध्यान से विश्व माया की सदा सदा के लिये निवृत्ति हो जाती है। उन परमात्मा स्वरूप देव को जानकर समस्त बन्धनों से छूट जाता है। समस्त क्लेश क्षाण हो जाते हैं। जन्म मृत्यु का अन्त हो जाता है अर्थात् उसे फिर कभी जन्म नहीं लेना पड़ता। इसलिये आत्मकामी को आत्मा का ही सदा सवदा ध्यान करना चाहिये। इससे परे जानने योग्य कोई पदार्थ नहीं। आत्मविद्या का मूल तप है, तप से ब्रह्मोपनिषद् का ज्ञान होता है। जो इस प्रकार आत्म स्वरूप को जानकर स्वरूप चिन्तन करता है सवत्र एक आत्मा को ही देखता है। उसे माह तथा शाक हो ही नहीं सकता। इस प्रकार आत्मा के यथाथ स्वरूप को जानकर सदा स्वरूपानुसधान में ही लगा रहता है वह मुक्त हो जाता है। वही परिव्राजक समस्त उपाधियों से विनिर्मुक्त होकर सुख दुख स अतीत हो जाता है। वह सर्ववेद्य, सवज्ञ, सर्व सिद्धियों को देने वाला, सर्वेश्वर हो जाता है। वह सोऽहं भाव में निमग्न रहता है। यही विष्णु का परम पद है, जहाँ जाकर योगी लोग पुनः लौटकर ससार में नहीं आते। वह ऐसा परम पद है जहाँ सूर्य चन्द्रादि किसी ग्रह नक्षत्र की पहुँच नहीं। जहाँ जाकर फिर लौटता नहीं, फिर लौटता नहीं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इस प्रकार मैंने नारद परि-

भ्राजक उपनिषद् का सार बहुत ही संक्षेप में आपको सुनाया। अब आप शुक्ल यजुर्वेदीय त्रिशिखि ब्राह्मण उपनिषद् का सार श्रवण करें।"

छप्पय

प्रणव एक ही सार और निस्सार जगत है।
तन क्षर अक्षर मध्य मिलें तें जगत बनत है॥
आत्मा कूँ करि पृथक् जगत् कूँ तुरत नसाओ।
आत्मा को करि ध्यान आतमा में मिलि जाओ॥
आत्मा अद्वय एक रस, नित्य, शुद्ध, चैतन्य प्रभु।
आत्मभाव में नित निरत, संन्यासी बनि जाय विभु॥

इति नारद परिव्राजक उपनिषद्-सार समाप्त

(४६) त्रिशिखि ब्राह्मणोपनिषद्-सार

[३१०]

शिखा ज्ञानमयी वृत्तिर्यमाद्यष्टाङ्ग साधनैः ।
ज्ञानयोगः कर्मयोग इति योगो द्विधामतः ॥*

(त्रि० ब्रा० उ० २३ म०)

छप्पय

त्रिशिखि ब्राह्मण कही उपनिषद् ज्ञान योगमय।
अष्टअङ्ग बतलाइ करी व्याख्या सु ज्ञानमय॥
ज्ञान करम द्वै योग करै निष्काम करम जो।
ज्ञान वृत्ति नित रहै योग है ज्ञानयुक्त सो॥
यम विराग-जग नियम है-जग विरक्ति आसन बहुत।
प्राण-सु प्रत्याहार विधि, त्रय सयम मिलि महातत॥

भिन्न भिन्न आचार्यों ने भिन्न भिन्न प्रकार के साधकों के लिये भिन्न भिन्न साधन बताये हैं। साध्य वस्तु तो एक ही है। कोई राजपथ से, कोई पगडंडी से, कोई सीधे मार्ग से, कोई विभिन्न वाहनों से, कोई पैदल ही जाकर पहुँचेंगे वहीं एक स्थान पर। देर से सवेर स सभी को पहुँचना वहीं है। इसी प्रकार ज्ञान मार्ग से,

---

* शिखा ज्ञानमयी वृत्ति को कहते हैं। यम नियमादि योग साधन के आठ अङ्ग है। ज्ञान योग और कर्म योग इस प्रकार योग दो प्रकार का माना गया है।

कर्म मार्ग से तथा भक्ति मार्ग से अन्त में उस परतत्त्व तक ही सब साधकों को पहुँचना है। अष्टाङ्ग योग जो यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार धारणा, ध्यान और समाधि हैं इनकी योगों के अनुसार ऋषियों ने अनेक प्रकार से व्याख्या की हैं। त्रिशिखिब्राह्मण उपनिषद् ज्ञान प्रधान उपनिषद् है इसलिये इसकी व्याख्या ज्ञान प्रधान है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! अब आप त्रिशिख ब्राह्मणोपनिषद् के सार को श्रवण करें। एक समय त्रिशिखि नामक ब्राह्मण अपने तप के प्रभाव से आदित्य लोक में गये। वहाँ जाकर उन्होंने आदित्य देव से पूछा—"भगवन्! देह क्या है? प्राण क्या है? तथा कारण क्या है?"

इस पर आदित्य ने कहा—"देखो, भैया! तुम इन सबको शिव ही समझो। किन्तु शिव तो नित्य हैं, शुद्ध हैं; निरञ्जन हैं, विभु हैं, अद्वय हैं। एक शिव ही अपनी आभा से सबको देखकर सबमें आभासित हो रहे हैं। जैसे लोहे का गोला है, उसे आग में दे दो तो अग्नि के संसर्ग से वह अग्निमय ही भासित होता है। वास्तव में देखा जाय तो अग्नि भिन्न है, लोह पिंड भिन्न है। उस ब्रह्म का भासक कौन है? इस पर कहते हैं—सत् शब्द वाच्य अविद्या शबल ब्रह्म ही भासक है। उस अविद्या सबल ब्रह्म से यह चराचर सृष्टि कैसे हो गयी? इसे बताते हैं ब्रह्म से अव्यक्त-प्रकृति-हुई। उस अव्यक्त से महत्तत्त्व उत्पन्न हुआ। महत्तत्त्व से अहंकार। अहंकार से पंच तन्मात्रायें, पञ्च तन्मात्राओं से पंचमहाभूत उत्पन्न हुए और पञ्च महाभूतों से ही यह दृश्य प्रपञ्च-अखिल जगत् उत्पन्न हुआ। यह अखिल जगत् क्या है? इस पर बताते हैं देखो, ये भूत विकार विभाग से ही यह अखिल जगत् हुआ। अब प्रश्न यह उठता है, कि एक

ही पिंड में भूत विकार विभाग कैसे हुआ ? इस पर कहते हैं तद् तद् कार्य कारण भेद रूप करके अंश तत्त्व, वाचक वाच्य, स्थान भेद, विषय, देवता, कोश भेद विभाग हो जाते हैं। वैसे विभाग हो जाते हैं, इसे बताते हैं।"

जैसे आकाश पञ्चभूतों मे से एक भूत है, इसके अन्तःकरण चतुष्टय—मन, बुद्धि चित्त और अहकार–य विषय हुए। दूसरा भूत वायु है इसके समान, उदान, व्यान, अपान और प्राण ये पञ्च प्राण विषय हुए। तीसरा भूत अग्नि है। इसके श्रोत्र, त्वचा, चक्षु, जिह्वा और घ्राण ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ विषय हुए। चौथा भूत जल है। इसकी शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध ये पाँच तन्मात्रायें हुईं। पाँचवा भूत पृथ्वी है इसके वाक्, पाणि, पाद, पायु और उपस्थ ये पाँच कर्मेन्द्रियाँ विषय हुए। आकाश से जो अन्तःकरण चतुष्टय हुए उनमे से मन का कार्य, ज्ञान और सकल्प विकल्प है। बुद्धि का निश्चय, चित्त का अनुसधान और अहकार का अभिमान करना ये इनके कार्य हैं। इसी प्रकार वायु के जो पञ्च प्राण हैं उनके कार्य क्रमशः समीकरण, उन्नयन, ग्रहण, श्रवण और उच्छ्वास हैं। अग्नि से जो ज्ञानेन्द्रियाँ हुईं उनके कार्य क्रमशः शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध हैं। ये जल के आश्रित हैं

पृथ्वी की जो पच कर्मेन्द्रियाँ विषय हुईं उनका कार्य क्रमशः वचन, आदान, गमन, विसर्ग और आनन्द हैं। कर्मेन्द्रियाँ और ज्ञानेन्द्रियों के विषयों के अन्तर्भूत प्राण और तन्मात्रायें विषय हैं तथा अन्त.करण चतुष्टय मन, बुद्धि, चित्त और अहकार ये भी अन्तरभूत हैं। अवकाश, विधूत, दर्शन, पिण्डीकरण और धारणा ये पञ्चभूतों के कार्य हैं, ये सूक्ष्मतम जीव की तन्मात्राओं के विषय हैं।

इस प्रकार ये बारह अंग हैं। इनके आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक ऐसे तीन भेद हैं। चन्द्रमा, ब्रह्मा, दिशायें, वायु सूर्य, वरुण, अश्विनीकुमार, अग्नि, इन्द्र, उपेन्द्र, प्रजापति और यम ये बारह इन्द्रियों के बारह अधिष्ठातृ देवता के रूप में बारह नाड़ियों में अन्तः प्रविष्ट हैं। ये सब प्राणों के ही अङ्ग हैं। अङ्ग ज्ञान प्राणों से ही होता है। अर्थात् प्राण ही समस्त इन्द्रियों, देवताओं तथा शरीरों के अवयवों को धारण किये हुए हैं।

अब आकाश, वायु, अग्नि, जल और अन्नरूपा पृथ्वी इनके पंचीकरण को बताते हैं। ज्ञातृत्व जो विषय है समान रूप जो प्राण है उसके योग से श्रोत्रेन्द्रिय द्वारा शब्द गुण है। शब्द वाक् अधिष्ठित है। अर्थात् शब्द होना वाणी का धर्म है। यह शब्द आकाश में रहता है। अर्थात् शब्द जो तन्मात्रा है उनका ज्ञान श्रोतेन्द्रिय से होता है, वाक् जो कर्मेन्द्रिय है वह शब्द उसके द्वारा होता है, और शब्द पंचभूतों में से आकाश का विषय है। आकाश में शब्द रहता है। तो आकाश तो भूत, समान नामक प्राण, श्रोत्र ज्ञानेन्द्रिय, वाक् कर्मेन्द्रिय, शब्द तन्मात्रा और जानना विषय यह आकाश का पंचीकरण हुआ। इसी प्रकार समस्त इन्द्रियों और भूतों के सम्बन्ध में समझना चाहिये। जैसे मन है, व्यान रूप प्राण से त्वचा द्वारा स्पर्श तन्मात्रा इसका गुण है। हाथ जो कर्मेन्द्रिय हैं उसके द्वारा अधिष्ठित है। वायु में ये सब रहते हैं वायु सबमें रहती है। अर्थात् मन, व्यान, त्वचा, स्पर्श और हाथ ये सब मिलकर वायु का पंची-करण हुआ।

इसी प्रकार बुद्धि, उदान, चक्षु, रूप और पैर ये सब मिलकर अग्नि का पंचीकरण है।

चित्त, अपान, जिह्वा, रस और जल यह जल का पचीकरण है। अहकार, प्राण, घ्राण, गन्ध, गुदा ये सब मिलकर पृथ्वी का पचीकरण है। अर्थात् ये पाँचो पृथ्वी में रहते हैं पृथ्वी इनमे रहती है

आकाश में एक शब्द गुण है, वायु में शब्द और स्पर्श दो, अग्नि में शब्द, स्पर्श, रूप तीन गुण हैं। जल में शब्द, रूप, स्पर्श और रस चार गुण हैं। पृथ्वी में शब्द, रूप, स्पर्श, रस और गन्ध पाँच गुण हैं। यह भूमि पचभूत मयी है। इसके साथ जब चैतन्य समन्वित हो जाता है तो इसी मे से ओषधि अन्नादि की उत्पत्ति होती है, तो अन्न से चार प्रकार के पिंड हो जाते हैं। अर्थात् अण्डज, पिंडज, श्वेदज और उद्भिज चार प्रकार के शरीर अन्न से बनते हैं। अन्न से ही रस, रक्त, मास, मेद, अस्थि, मज्जा और वीर्य ये सात धातुएँ बनती हैं। किसी के योग से कोई पिड बनता है किसी के योग से कोई। यह जो अन्नमय पिंड है, वह नाभि मण्डल में सस्थित रहता है। इसके मध्य में एक हृदय होता है। वह नाल सहित पद्म-कोश के समान होता है। देवता सत्त्वगुण प्रधान होते हैं, चैतन्य में कर्तापने का अहकार होता है। अहकार बीज तमो-गुण पिंड है, वह मोह रूप है जड है घन है। यह तमः पिंड कठ का आश्रय करके रहता है। जब ये सब मिल-जुल जाते हैं इसी का नाम अखिल जगत् है। जो प्रत्यक् आनन्द रूप आत्मा है, वह मूर्धा स्थान मे परम पद है। उसमे रहता है। अनन्तशक्ति सयुक्त यही जगत् रूप में प्रतीत होता है।

तीन अवस्थायें हैं। जाग्रत, स्वप्न, और सुषुप्ति। इनमें जाग्रत तो सर्वत्र रहती है। स्वप्नावस्था जाग्रत में रहती है। सुषुप्ति अवस्था में न तो जाग्रत है न स्वप्न है। वह प्रगाढ निद्रा

की अवस्था है। इन तीनों से परे एक तुरीयावस्था भी है। वास्तव में तुरीय कोई अवस्था नहीं। तीनों से जो परे है वही तुरीय है। वे शिव रूप इन चारों रूपों में सर्वत्र अवस्थित हैं। जैसे महाफल में-शहद में-सभी प्रकार के रस एक साथ ही रहते हैं। ऐसे ही महाशिव में ये चारों प्रकार के चराचर जीव अवस्थित हैं। यह जो अन्नमय कोश है इसमें सभी कोश अवस्थित हैं। जैसे ये अन्नमय, प्राणमय कोश हैं इनमें जीव स्थित है, और जीव में शिव स्वरूप ब्रह्म स्थित है।

जीव में और शिव में फिर अन्तर क्या रहा ? देखो जी, जो विकार सहित चैतन्य है उसी की जीव संज्ञा है, जो निर्विकार चैतन्य है वही शिव है। तीनों अवस्थाओं के प्रवर्तक जो अन्नमयादि कोश हैं ये ही जीव के विकार हैं। जैसे दूध दही आदि रस हैं, उन्हें मथो तो मथने से उनमें फैन उठने लगता है। इसी प्रकार मन को मथने से बहुत से विकल्प उत्पन्न होते हैं। कर्म करने से जीव कर्मी होता है-अशान्त होता है-उन कर्मों का परित्याग कर दे तो उसे शान्ति की प्राप्ति हो जाती है। दक्षिणायन में प्राप्त होने से जीव प्रपञ्च के अभिमुख हो जाता है। अर्थात् अहङ्कार के वशवर्ती होकर जब कर्मो में प्रवर्त हो जाता है, तो उसकी जीव संज्ञा हो जाती है। अहङ्कार अभिमान से रहित होने पर वह सदा शिव तो है ही।

जब जीव की अविवेक प्रकृति से संगति हो जाती है तभी मोह को प्राप्त होता है। वासनाओं के वशीभूत होकर यह जीव नाना योनियों में जाकर सोता है। पुरियों में सोने से ही यह पुरुष कहलाता है। जब इसकी वासनायें निवृत्त हो जाती हैं तो वह स्वच्छन्द हो जाता है, जैसे मछली दोनों किनारों में से चाहे जिस किनारे पर स्वच्छन्द होकर चली जाती है। काल-क्रम

से तथा आत्म ज्ञान विवेक से जब जीव उत्तराभिमुख होता है, परमात्मा की ओर चलने लगता है, तो क्रम क्रम से उच्च स्थानों को ओर बढता ही जाता है।

जब आत्मज्ञान की ओर जीव को प्रवृत्ति हो जाती है, तब योगाभ्यास के द्वारा प्राणों को मूर्धा में धारण करके आत्मज्ञान के लिये अभ्यास करने लगता है, तब योग से ज्ञान उत्पन्न होता है और ज्ञान से योग होने लगता है।

जो साधक योगी ज्ञान और याग में तत्पर होकर नित्य ही अभ्यास करते रहते हैं, उनका कभी नाश नहीं होता। विकारस्थ शिव को तो देखे, किन्तु शिव में विकारों को न देखे। अनन्य भावना से योग प्रकाशक का योग के द्वारा ध्यान करे। जो योग और ज्ञान दोनों की उपासना नहीं करता उसके भाव की सिद्धि नहीं होती। इसलिये अभ्यास योग के द्वारा मन का और प्राणों का निरोध करे। योगी को चाहिये ज्ञान रूपी तीक्ष्ण धारा वाले छुरे से अज्ञान को जड़ मूल से काट दे। ज्ञानमयी वृत्ति का नाम शिखा है, यम नियमादि अष्टाङ्ग साधन हैं। इन साधनों द्वारा ज्ञानयोग तथा कर्मयोग दोनों योगों का अभ्यास करे। अब पहिले क्रिया योग को ही बतलाते हैं। हे ब्राह्मण सत्तम! पहिले तुम उसे ही सुनो। जो अव्याकुल चित्त से कर्तव्य समझकर निष्काम भाव से शास्त्र विहित कर्मों को ही करता है उसे कर्मों का बन्धन नहीं होता। क्योंकि बन्धन तो मन से ही होता है। मन में फल की आकांक्षा न हो, तो वे कर्म बन्धन के कारण नहीं होते। निष्काम भाव से शास्त्र विहित कर्मों को कर्तव्य समझकर करना इसी का नाम कर्म योग है।

चित्त सदा कल्याण के चिन्तन में ही लगा रहे। आत्मानुसधान के अतिरिक्त ससारी विषयों का चिन्तन ही न करे उसो

को कल्याणकारी ज्ञानयोग कहते हैं। यह योग सर्व सिद्धि करने वाला है। जिसका मन इन दोनों योगों में से एक में भी दृढ़ता से लगा रहे वहीं परम पद का अधिकारी होता है, उसे तुरन्त मुक्ति पद प्राप्त हो जाता है। यह तो योग के सम्बन्ध में बताया गया।। अब यम नियमादि साधनों के सम्बन्ध में भी सावधान होकर सुन लीजिये। योग के यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि आठ अंग हैं। इनके क्रमशः लक्षण सुनो।

१-यम—देह और इन्द्रियों के प्रति सतत वैराग्य का भाव बना रहे इसी को विद्वानों ने यम कहा है।

२-नियम—परतत्त्व जो परमात्मा है उसमें सतत अनुरक्ति बनी रहे इसी का नाम नियम है।

३-आसन—संसार की समस्त वस्तुओं में सदा उदासीन भाव रहना इसी का नाम उत्तम आसन है।

४-प्राणायाम—यह सम्पूर्ण जगत् मिथ्या है ऐसे प्रतीति सदा बनी रहे इसी को वास्तविक प्राणायाम कहते हैं।

५-प्रत्याहार—चित्त का जो अन्तर्मुखी भाव है, उसी का नाम प्रत्याहार है।

६-धारणा—चित्त का जो निश्चली भाव है, अर्थात् चित्त चलायमान न होकर निश्चल हो जाय, उसी का नाम धारणा है।

७-ध्यान—सोऽहं जो चिन्मात्र है उसी का निरन्तर चिन्तन करते रहना इसी को योगीजन ध्यान कहते हैं।

८-समाधि—हम ध्यान कर रहे हैं, जब यह भावना भी विस्मृत हो जाय, अर्थात् ध्यान की भी विस्मृति न रहे इसी का नाम सम्यक समाधि है।

इस प्रकार ज्ञान दृष्टि से तो योग के आठ अंगों की व्याख्या कर दी। अब योग दृष्टि से सुनिये।

१-यम—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, दया, ऋजुता, क्षमा, धृति, मिताहार, और शौच इस प्रकार यम दश कहे गये हैं।

२-नियम—तप, सन्तुष्टि, आस्तिक भाव, दान, हरि आराधन, वेदान्त श्रवण, ह्री, मति, जप और व्रत ये दश नियम हैं।

३-आसन—बहुत से आसन हैं, उनमें स्वस्तिक, गोमुख, वीर, योग, पद्म, बद्ध पद्म, कुक्कुट, कूर्म, धनु, भद्र, मुक्त, मयूर, मत्स्यपीठक, सिद्ध, पश्चिमतान तथा सुखादि आसन मुख्य हैं।

४-प्राणायाम—नाडी शुद्धि करके प्राणायाम का अभ्यास करे। देहस्थ जो वायु है, उसे देह में उत्पन्न अग्नि के द्वारा न्यून या अधिक योग के द्वारा कर ले। देह के मध्य में एक शिखि स्थान है, तपाये हुए सुवर्ण के सदृश। वह त्रिकोण है मनुष्यों के शरीर में, अन्य पशुओं के शरीर में चतुष्कोण है, पक्षियों के शरीर में वृत्ताकार गोल है। सर्पों के शरीर में षटकोण है और स्वेदजों के शरीर में अष्टकोण। वहीं एक कन्द स्थान भी है, वह मनुष्यों की देह में नौ अगुल का होता है। उसका घेरा चार अगुल का और चार अगुल चौडा। तिर्यक्, द्विज और चतुष्पाद योनि वालों के अडा की आकृति सदृश उस शिखिस्थान के पास कन्द स्थान, उसमें तुन्द स्थान, उसके बीच में नाभि स्थान। उस नाभि स्थान में द्वादश दल का एक चक्र है उसमें विष्णु आदि का मूर्ति हैं। उस चक्र में सूर्य कहते हैं मैं स्थित रहता हूँ। अपनी माया के कारण भ्रमण करता रहता हूँ। उन बारह अरों

में जीव घूमता रहता है। जैसे तन्तु के बने पिंजड़े में बँदरिया घूमती रहती है। जीव प्राणों के द्वारा ही समस्त क्रियायें करता है। प्राणों के बिना कुछ नहीं कर सकता। उससे ऊपर एक कुण्डली स्थान है। नाभि से तिरछा तथा ऊपर की ओर। वह कुण्डली स्थान अष्ट जो प्रकृतियाँ हैं उनके अनुरूप है, आठ भाँति से गुड़मुड़ी मारे अष्ट कुण्डली युक्त स्थित है। वह यथावत् वायु के सार से नित्य ही प्रज्वलित रहता है। वह कुण्डली कन्द के पास उसे चारों ओर से घेरकर स्थित है। ब्रह्मरन्ध्र के मुख को अपने मुख से चारों ओर से लपेटे हुए स्थित है। योग करते समय योग की वायु द्वारा तथा वहाँ स्थित अग्नि के द्वारा वह कुण्डली प्रबोधित हो जाती है। इससे वह जगकर सर्पिणी रूप से चढ़कर हृदयाकाश में आ जाती है।

इसके अनन्तर अन्य इड़ा पिंगला तथा सुषुम्ना आदि नाड़ियों का वर्णन है। कन्द के मध्य में सुषुम्ना नाड़ी स्थित है। फिर वैष्णवी ब्रह्म नाड़ी का वर्णन है। बाईं नासिका में इड़ा और दाईं में पिंगला है। फिर और बहुत-सी नाड़ियों का वर्णन है। जैसे पीपल के पत्ते में नाड़ियों का जाल होता है, वैसे ही देह में असंख्यों सूक्ष्म और स्थूल नाड़ियों का जाल है।

प्राण, अपान, समान, उदान, व्यान, नाग, कूर्म, कृकर, देवदत्त और धनञ्जय ये दस विध प्राण दस नाड़ियों में घूमते रहते हैं। इनमें प्राणादि पाँच प्रधान हैं। इनमें भी प्राण अपान प्रधान हैं। मुख्य श्रेष्ठ तो प्राण ही है, वही जीवात्मा का धारण पोषण करता है। मुख, नासिका के मध्य में, हृदय तथा नाभिमंडल तक, पैरों के मूल से पैरों के अँगूठों तक ये सब प्राण के स्थान हैं। अपान गुदा में और जानुओं में विचरता है। समान सम्पूर्ण शरीर में विचरण करता

है। समस्त शरीर की सन्धियों में तथा हाथ पेरों मे उदान घूमता है, कान ऊरु, कटि, गुल्फ, स्कन्ध, गला में व्यान घूमता है। नागादि जो पाँच उप प्राण हैं वे त्वचा हड्डी आदि मे घूमते हैं। तुन्द स्थान जो तोंद है उसी में खाया हुआ अन्न जल स्थित रहता है। रसादि सब वहाँ घुल मिल जाते हैं। तुन्द मध्यगत प्राण हैं वे उन सबको पृथक् पृथक् करते हैं। प्राण पृथक् स्थित होने पर भी इन सब चेष्टाओं को करता है। अपान वायु मल मूत्रादि का विसर्जन कराता है। प्राणापान की-श्वॉस लेने की चेष्टा व्यान वायु करती है। उदान वायु खाये हुए को जीर्ण करती है, समान वायु शरीर का पोषण करती है। डकार लेने का व्यापार नाग, आँखों के खोलन मींचने का कार्य कूर्म, छींक का कार्य कृकर, देवदत्त निद्रादि कर्म करता है। मर जाने पर भी मृतक शरीर में धनञ्जय स्थित रहता है।

देखो, नाडियों का भेद, दश विध प्राणा का भेद—प्राणों के कौन कौन से स्थान हैं, इन बातों का भेद, वे प्राण कौन कौन सा कार्य करत हैं। इसका भेद इन सबका भेद जानकर पहिले समस्त नाडियों का शाधन करना चाहिये। जब तक नाडी शुद्धि नहीं होती, तब तक प्राणो का आयाम प्राणायाम सिद्ध हो ही नहीं सकता।

जन शून्य एकात स्थान में, समस्त ससारी सम्बधों से रहित होकर योग के जितन अग हैं उनका अभ्यास करे। पहिले भूमि पर या काष्ठ के पटरा पर पवित्र स्थान में आसन लगावे। सबसे नीचे कुशा का, फिर काले मृग के चर्म का, फिर वस्त्र का आसन बिछावे। उस आसन पर यथा रुचि स्वस्तिकादि आसन से बैठे। आसन को बाँधकर ऋजुकाय होकर, नासिका के अग्र भाग पर दृष्टि जमाकर, दाँतो से दाँतों को मींचकर, जिह्वा को तालु में

लगाकर, स्वस्थ चित्त निरामय होकर बैठे। सिर को थोड़ा-सा भींचकर जालन्धर बन्ध बाँधकर—योग मुद्रा धारण करके हाथों को यथोक्तविधि से स्थित करके तब प्राणायाम का अभ्यास करे। रेचक पूरक करके वायु का शोधन करे।

पहिले वायु को निकाल दे। फिर शनैः-शनैः खींचे, फिर खींची हुई पूर्ण की हुई वायु को घड़े की भाँति पेट में धारण करे। फिर उसे शनैः-शनैः निकाल दे। इस प्रकार रेचन, पूरण, शोधन और फिर रेशन इन चार प्रकार के वायु के आयाम—श्रम—को प्राणायाम कहते हैं। दायें हाथ की उँगलियों से नासिका के एक पुट को दबा ले। फिर शनैः-शनैः दूसरे नासिका पुट से भीतर की वायु को रेचन कर दे, निकाल दे। इडा को दबावे, पिंगला से वायु निकाले। फिर इडा से वायु को भरे। सोलह मात्रा के समय में पूरक करे। फिर पूरित वायु को चौसठ मात्रा के समय तक रोके रहे। फिर बत्तीस मात्रा के समय में शनैः-शनैः उसे निकाल दे। अर्थात् जितने समय में वायु खींचे, पूरक प्राणायाम करे, उसके दुगुने समय में रेचक करे अर्थात् निकाले और चौगुने समय तक कुम्भक करे, अर्थात् बाहर से खींची वायु को उदर में धारण करे। इस प्रकार बारम्बार व्युत्क्रम और अनुक्रमपूर्वक प्राणायाम करता रहे। फिर वायु को कुम्भवत् देह में स्थापित कर ले। अर्थात् केवल कुम्भक का ही अभ्यास करे। सब नाड़ियों के शुद्ध हो जाने पर भीतर की वायु भीतर ही नाड़ियों में घूमती हुई पच जायगी। दस नाड़ियों में जो दश प्राण घूमा करते हैं उनमें घूमकर हृदय में आवेगी। फिर हृदय काव्याकोश करने पर वहाँ हृदय कमल के मध्य में परमात्मा जो निष्कल्मष वासुदेव हैं, उनके दर्शन होंगे। इस प्रकार प्रातःकाल, मध्यान्ह, सायंकाल और अर्धरात्रि में केवल कुम्भकों का ही अभ्यास करता रहे।

शनैः शनैः चार बार में अस्सी तक अभ्यास बढाता जाय। एक ही महीने में साधक समस्त पापों से छूट जायगा। तीन वर्ष से ऊपर समय पर्यन्त अभ्यास करने से मनुष्य प्राणायामपर हो जाता है। वायु तथा इन्द्रियों के जीत लेने से योगी योगसिद्ध हो जाता है। बहुत ही अल्प आहार करने वाला, बहुत ही कम सोने वाला तथा तेजस्वी और बलवान् हो जाता है। प्राणायाम में तत्पर योगी अकाल मृत्यु का अतिक्रमण कर जाता है, वह दीर्घ आयुष्य वाला होता है।

प्राणायाम करते-करते पहिले प्रस्वेद–पसीना–होता है। यह अधमावस्था की स्थिति है। जब प्राणायाम करते-करते शरीर में कँपकँपी होने लगे तो समझो यह मध्यमावस्था है। जब अभ्यास करते-करते शरीर आकाश में अधर स्थिर होने लगे वह उत्तम स्थिति है। स्वेद होकर शरीर से जल निकलने लगे तो उससे व्याधियों का नाश होता है। कम्प होने लगे तो इससे पापों का नाश होता है, और शरीर भूमि त्यागकर निराधार में स्थित होने लगे, तो उससे पापों का, रोगों का तथा महाव्याधियों का नाश हो जाता है। इसके लक्षण क्या होते हैं ? इसे बताते हैं–मल और मूत्र बहुत अल्प हो जाता है, शरीर पुष्प के सदृश हलका हो जाता है, भोजन बहुत ही मित सयमित लघु हो जाता है। सब इन्द्रियाँ तथा बुद्धि पटु-तीक्ष्ण–स्फूर्तियुक्त हो जाती हैं, त्रिकालदर्शी हो जाता है। जो रेचक पूरक दोनों का परित्याग करके केवल कुम्भक करने लगता है उसे तीनों काल में कुछ भी दुर्लभ नहीं। देखो नाभि के कन्द स्थान में, नासिका के अग्र भाग में तथा पैर के अँगूठा में जो यत्नवान् होकर मन के द्वारा प्राणों को सन्ध्याकाल में अथवा सर्वदा धारण करता है ऐसा योगी

सभी प्रकार के रोगों से विनिर्मुक्त होकर चिरकाल तक बिना परिश्रम के जीवित रहता है।

नाभिकन्द में जो मन से प्राणों को धारण करता है तो उसके कुक्षिगत समस्त रोगों का नाश हो जाता है। नासिका के अग्रभाग में मन से प्राण धारण करने से दीर्घ आयु और शरीर की लाघवता होती है। ब्राह्म मुहूर्त में उठकर जिह्वा से वायु को खींचकर तीन महीने तक वायु को पीता रहे, तो उसकी वाक्‌सिद्धि हो जायगी, वह अपनी वाणी से जो कह देगा वही हो जायगा। छै महीने के अभ्यास से महारोगों का नाश हो जायगा। रोगादि से दूषित शरीर में जहाँ-जहाँ भी वायु को धारण करे, वहाँ-वहाँ के रोग नष्ट होकर आरोग्यता की प्राप्ति होगी।

मन के धारण करने से वायु भी वहाँ आधारित हो जाती है। क्योंकि मन और वायु का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। मन के रुकने से वायु रुक जाती है और वायु के रुकने से मन रुक जाता है। मन से धारणा कैसे करे इसे बताते हैं—

पहिले इन्द्रियों को उनके विषयों से हटाकर सावधानी से आसन लगाकर बैठे, गुदा में रहने वाली अपानवायु को ऊपर की ओर खींचकर उसे उदर के ऊपर धारण करे। दोनों हाथों से नाक कान और आँखों के छिद्रों को बन्द कर ले। फिर यत्नपूर्वक मन को वश में करने का अभ्यास करे। इस प्रकार मन के वश में होने से प्राणवायु स्ववश हो जाती है। नासिका पुट में वायु पर्याय करके घूमते हैं। इडा, पिंगला और सुषुम्ना तीन नाड़ियाँ हैं इनमें प्राण क्रमशः घूमता रहता है। एक शङ्खिनी नाम की नाड़ी है उसके विवर में भी प्राणियों के प्राण उतनी ही देर घूमते रहते हैं। इस प्रकार जिसने वायु को जीत लिया है ऐसे केवल

कुम्भक का अभ्यास करने वाले योगी के प्राण भीतर-ही-भीतर नाड़ियों मे ही घूम घूमकर जीर्ण होते रहते हैं।

दिन, रात्रि, पक्ष, मास, ऋतु, अयन, इन सबकी गति को समाहित चित्त वाला योगी अन्तर्मुख होकर जान लेता है। कैसे जान लेता है इसे बताते हैं।

अँगूठा आदि अपने देह के जो अवयव हैं उनके स्फुरण से तथा भोजनादि से जीवन के अरिष्टों का ज्ञान हो जाता है, कि यह शरार अब कितने दिनों तक जावित रहेगा। इन सब लक्षणों को जानकर योगी को चाहिये कि वह मुक्ति के लिये प्रयत्न करे।

पैर के तथा हाथ के अँगूठों मे प्राणवायु का स्फुरण न हो, तो समझना चाहिये इसकी वर्ष के पहिले ही मृत्यु हो जायगी। मणिबन्ध में गुल्फ में स्फुरण नष्ट हो जाय तो छः महीने मे मृत्यु हो जाय। कर्पूर मे स्फुरण बद होने से तीन मास मे, कुक्षि और मलाशय में स्फुरण बद होने से एक मास मे, जठरवद में होने से दश दिन में, आँख की ज्योति में खद्योतवत स्फुरण होने से पाँच दिन में, जिह्वा के अग्रभाग में न होने से तीन दिन मे, ज्वाला के दर्शन होने से दो दिन मे मृत्यु हो जाती है। इस प्रकार क अरिष्टों को देखकर आयु क्षय का अनुमान लगा ले। इसलिये जप ध्यान परायण होकर मोक्ष के लिये सतत प्रयत्न करता रहे। मन से जो निरन्तर परमात्मा का ध्यान करता रहेगा, वह अन्त मे तद्रूपता को प्राप्त हो जायगा। ये सब बातें प्राणायाम के सम्बन्ध में कही गयी हैं। अब प्रत्याहार के सम्बन्ध में श्रवण कीजिये।

५—प्रत्याहार—एक स्थान से प्राणों को मन सहित खींचकर बार-बार एक ही स्थान में लगाये रखे इसी का नाम प्रत्याहार है।

६—धारणा–पाद के अँगूठा, गुल्फ, जङ्घाओं का मध्यभाग, ऊरुओं का मध्यभाग, गुदा का मूल, हृदय, मलाशय, नाभि, गलाकर्पूर, तालु का मूल, नासिका का मूल, चक्षुमंडल, दोनों भौहों का मध्यभाग, ललाट, जानुओं का मूल और ऊर्ध्व स्थान, हाथों का मूल ये सब पंचभूतों के निर्मित पचभूतात्मक देह के अग हैं। मन से इन अगों में प्राणों को यम नियमपूर्वक धारणा करने का ही नाम धारणा है। इन अंगों में मन द्वारा जो प्राणों की धारणा की जाती है इससे संसाररूपी सागर को पार किया जा सकता है। संसार सागर के पार होने में धारणा कारण है। इस शरार में पाँचों भूतों के पाँच स्थान हैं। वहाँ ध्यान करे।

७—ध्यान-पैरों से लेकर जानु पर्यन्त पृथ्वी का स्थान है, यह पृथ्वी पित्तला है, चतुष्कोण है, वज्र द्वारा लांछित है। वहाँ वायु को रोककर पाँच घड़ी तक स्मरण करे।

जानु से लेकर कटिपर्यन्त जल का स्थान कहा गया है। उसका रूप अर्ध चन्द्राकार बताया है, वर्ण श्वेत है और अर्जुन वृक्ष द्वारा लांछित है। वहाँ वायु को जल में आरोपित करके दश घड़ी तक स्मरण करे।

देह के मध्यभाग से लेकर कटि के अन्त तक अग्नि का स्थान है। उसका सिन्दूर वर्ण है, अग्नि की भाँति प्रज्वलित रहती है। वहाँ पन्द्रह घड़ी तक प्राणों को रोककर-कुम्भक करके-स्मरण करना चाहिये।

नाभि से ऊपर नासिका पर्यन्त वायु का स्थान है। जैसे चतुष्कोण वेदिका होती है वैसे आकार का यह स्थान है। धूम्र वर्ण है। यहाँ बलवान् वायु रहते हैं, यहाँ कुम्भक द्वारा प्राणों को रोककर बीस घड़ी तक स्मरण करना चाहिये।

घ्राण स्थान से लेकर ब्रह्मरन्ध्र पर्यन्त आकाश का स्थान है,

काले अंजन के सदृश इसका रंग है। वहाँ कुम्भक के द्वारा यत्नपूर्वक वायु को रोके रहे।

अब पाँचों भूतों के स्थानों में जिन पाँचो देवों का स्मरण करे उनके स्वरूपों को बताते हैं—पहिला पृथ्वी स्थान है, वहाँ चार भुजा वाले किरीटी अनिरुद्ध हरि का योगी ध्यान करे। संसार सागर से पार होने की इच्छा से।

दूसरा जो जल का स्थान है, उसमे नारायण का ध्यान करे। तीसरा जो अग्नि का स्थान है उसमे प्रद्युम्न का, चौथा जो वायु का स्थान है उसमें सकर्षण का और पाँचवाँ जो आकाश का स्थान है उसमे परमात्मा वायु देव का सदा स्मरण करे। इस प्रकार ध्यान करने से साधक को शीघ्र ही सिद्धि प्राप्ति हो जायगी, इसमें संशय नहीं।

पहिले योगासन से बैठे फिर हृदय प्रदेश में हृदयाञ्जलि बाँधकर, दृष्टि को नासिका के अग्रभाग पर लगाकर, जिह्वा को तालु मे लगाकर, दाँतों को दाँतो से भींचकर शरीर को सीधा करके समाहित चित्त से बैठ जाय। इन्द्रियों को संयम द्वारा वश में करके विशुद्ध आत्म बुद्धि से परमात्मा वासुदेव का चिन्तन करे। स्वरूप प्राप्त रूप का ध्यान मोक्षप्रद है। जो भगवान् वासुदेव का बिना मात्रा गणना के केवल कुंभक के द्वारा चिन्तन करता है, उस योगी के सात जन्म के किये हुए पाप नष्ट हो जाते हैं। नाभि के कन्द से लेकर जहाँ तक हृदय प्रदेश है उसमें जाग्रत वृत्ति समझनी चाहिये। कण्ठ प्रदेश में स्वप्नवृत्ति और तालु के मध्य मे सुषुप्ति अवस्था और दोनों भौहों के बीच मे तुरियावस्था। ब्रह्मरन्ध्र में जहाँ परब्रह्म स्थान है वहाँ तुर्यातीत अवस्था है। जाग्रत वृत्ति से समारम्भ करके जहाँ तक ब्रह्मरन्ध्र है वहाँ तक यह तुरीय आत्मा है, इससे परे जो तुर्यातीत अवस्था है उसी को

विष्णु कहते हैं। अत्यन्त निर्मल आकाश स्थान जो ब्रह्मरन्ध्र है उसमें परमात्मा का ध्यान करना चाहिये। कैसे हैं वे परमात्मा ? जिनकी कान्ति करोड़ों सूर्यो के सदृश है। वे अधोक्षज प्रभु नित्य ही उदित रहते हैं। वे हृदय कमल के मध्य में समासीन हैं। उन विश्वरूप प्रभु का ध्यान करना चाहिये। वे विश्वरूप प्रभु कैसे हैं ? उनके अनेक आकार हैं, अनेक वदन, अनेक भुजा, अनेक आयुधों से मंडित हैं। उनके नाना वर्ण हैं, शान्त स्वरूप हैं, उग्र आयुध धारण किये हैं। उनके अनेक नयन हैं, कोटि सूर्यों के सदृश जिनकी द्युति है। उनका ध्यान करने से योगी की समस्त मनोवृत्तियाँ विनाश को प्राप्त हो जाती हैं। हृदय कमल के मध्य में अव्यय चैतन्य ज्योति है। कदम्ब के गोलक के आकार सदृश, जो तुर्यातीत परात्पर प्रभु हैं, वे अनन्त आनन्दमय हैं, चिन्मय स्वरूप हैं, ऐसे वे भास्कर विभु हैं। उनकी प्रभा निर्वात दीपक के सदृश—अकृत्रिम मणि के सदृश है। जो योगी ऐसे प्रभु का ध्यान करते हैं, उनके तो करतल पर ही मुक्ति रखी है। हृदय कमल के मध्य में विश्व रूप देव के रूप का जो ध्यान करते हैं। वह चाहें सूक्ष्म हों अथवा स्थूल कैसे भी रूप का ध्यान करने से उनका हृदय में साक्षात् प्रकाश होता है। अणिमादि सिद्धियों का फल उनके ध्यान से सुखपूर्वक सरलता से प्राप्त हो जाता है। यह ध्यान हो गया। अब समाधि के सम्बन्ध में सुनें।

८-समाधि—जीवात्मा और परमात्मा की एकता होने पर मैं ही परब्रह्म हूँ, मैं ब्रह्म ही हूँ, ऐसी दृढ़ स्थिति हो जाय, इसी का नाम समाधि है। इसमें सभी वृत्ति नष्ट हो जाती है। सर्ववृत्ति विवर्जित यह समाधि की स्थित है। ऐसा योगी ब्रह्मभाव को प्राप्त होता है, उसका फिर जन्म नहीं होता।

इस प्रकार योगी समस्त तत्त्वों को विशोधन करके निःस्पृह चित्त से स्थित रहे। जैसे ईंधन न रहने पर अग्नि स्वतः ही शांत हो जाती है उसी प्रकार ग्राह्य के अभाव होने से मन और प्राण निश्चय ही ज्ञान संयुक्त हो जाते हैं। जब जीव परम शुद्ध सत्त्व में लीन हो जाता है तो जैसे सेंधा नमक का पिंड पानी में घुल मिलकर एक हो जाता है वैसे ही वह ब्रह्म में एकाकार हो जाता है। तब वह मोह जाल के सदृश इस सम्पूर्ण विश्व को स्वप्न के सदृश देखता है। तब वह परिनिश्चल स्वभाव वाला होकर प्रगाढ़ सुषुप्ति अवस्था की दशा में आनन्द में तन्मय हो जाता है। इसी का नाम निर्वाण पद है इसी के आश्रय से योगी कैवल्य पद को प्राप्त कर लेता है। यही त्रिशिखि ब्राह्मणोपनिषद् है। यह शुक्ल यजुर्वेद की उपनिषद् है और पूर्ण मदः इत्यादि इसका शान्ति पाठ है। यह योग और ज्ञान मिश्रित उपनिषद् है।

छप्पय

दश दश यम अरु नियम कहे आसन अनेक हैं।
पूर कुम्भ अरु रेच प्राण सयम सुटेक हैं॥
करिके नाड़ी शुद्ध प्राण कूँ प्रत्याहृत करि।
करै धारणा विविध देश हिय माहिँ ध्यान धरि॥
जीवात्मा परमात्मा, होइ एकता मया गै।
वृत्ति नष्ट ह्वै जाइँ सब, फिरि केवल जग एक गै॥

इति शुक्ल यजुर्वेदीय त्रिशिखि ब्राह्मण
उपनिषद्-सार समाप्त

—o—

(४७) सीतोपनिषद्-सार

[३११]

सीता भगवती ज्ञेया मूलप्रकृति संज्ञिता।
प्रणवत्वात् प्रकृतिरिति वदन्ति ब्रह्मवादिनः ॥*
(सी० उ० १ मं०)

छप्पय

श्रीसीता उपनिषद् जगन्माता गुन खानी।
शक्ति स्वरूपा प्रकृति भूमि नीला श्रीरानी ॥
प्रणव रूपिणी काल-रूपिणी अनुपम शक्ती।
ज्ञान, उपासन, करम, रूपिणी रघुवर-भक्ती ॥
रामप्रिया सरवेश्वरी, सत्यमयी अमृतमयी।
षडैश्वर्य सम्पन्नश्री, उतपति थिति अरु लयमयी ॥

शक्ति और शक्तिवान, नाम और नामी इनमें अभेद सम्बन्ध है। जो नाम है वही नामी है। जो शक्ति है वही शक्तिवान् है। शक्ति की उपासना शक्तिवान् की ही उपासना है। शक्ति के बिना संसार में कुछ हो नहीं सकता। यह शक्ति ही अनेक रूपों से जगत् में व्याप्त है। एक महात्मा थे। वे शिव के ही भक्त थे,

* सीताजी को भगवती जानो, ये ही माद्याशक्ति मूल प्रकृति संज्ञा वाली हैं। प्रणवमय होने से ही उन्हें ब्रह्मवादी लोग प्रकृति इस नाम से पुकारते हैं।

शक्ति की वे उपेक्षा करते थे। वे यह नहीं जानते थे कि शिव में जो इकार है वही उनकी शक्ति है। शिव में से इकार को निकाल दो, तो वे शव—मृतक देह—ही रह जायेंगे। इकार ही जीवन की आधार है। शक्तिवान् उसके बिना कोई व्यापार कर नहीं सकता।

उन महात्मा को एक बार अतीसार रोग हो गया। निरन्तर बार-बार शौच जाने से वे निर्बल बन गये। एक वृक्ष के नीचे दुर्बलावस्था में बैठे थे। भगवती जगन्माता को उन पर दया आई। वे एक गोप कन्या का वेष बना कर दधिपात्र लेकर उनके समीप आयीं। दधिपात्र उतार कर कुछ काल बैठी रहीं। फिर महात्मा से बोलीं—"स्वामिन्! तनिक मेरे बोझा को तो उठवा दीजिये।"

महात्मा ने कहा—"देवि! मैं बहुत ही निर्बल शक्ति हीन हूँ। मुझमें उठवाने की शक्ति नहीं।"

गोप कन्या ने कहा—"भगवन्! आपने शक्ति की उपासना तो की ही नहीं। बिना शक्ति उपासना के शक्ति कहाँ से आवे?"

महात्मा समझ गये कि ये तो साक्षात् जगदम्बा अन्नपूर्णा दक्षिणामूर्ति हैं। उन्होंने तुरन्त दक्षिणा मूर्ति स्तोत्र की रचना करके भगवती की स्तुति की। तुरन्त भगवती ने प्रकट होकर उन्हें शक्ति सम्पन्न होने का वर दिया। वही आद्याशक्ति अनेक रूपों से प्रकट होती हैं। उन्हे ही सीता भी कहते हैं। उन भगवती माता के स्वरूप का तात्त्विक वर्णन सीतोपनिषद् में किया गया है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! अब मैं सीतोपनिषद् का सार आपको सुनाता हूँ। सीतोपनिषद् अथर्ववेदीय उपनिषद् है।

भद्रं कर्णेभिः आदि इसका शान्तिपाठ है। यह पद्य गद्यात्मक आठ मन्त्रों की छोटी-सी उपनिषद् है।"

देवताओं ने एक बार ब्रह्माजी के समीप जाकर पूछा—"भगवन्! हमें सीताजी के स्वरूप के सम्बन्ध में समझाइये। सीताजी कौन हैं ?"

तब ब्रह्माजी ने कहा—"देवताओ! सीता सीता ही हैं। वे मूल प्रकृति स्वरूपा हैं, सीता ही प्रकृति हैं, प्रकृति से जड़ा प्रकृति न जानें, वे प्रणव प्रकृति होने से ही प्रकृति कहाती हैं। सीता में तीन वर्ण हैं। वे साक्षात् योग मायामयी हैं। विष्णु प्रपञ्च बीज हैं, उनकी ईकार योगमाया हैं। सीता में जो सकार है वह सत्य, अमृत प्राप्ति सोमस्वरूप है। सीता में जो तकार है, वह तार लक्ष्मी का स्वरूप है, वह वैराज और विस्तार का स्वरूप है। ईकार रूपा जो सोम अमृत अवयवा दिव्य अलंकारों से विभूषिता, मोती आदि आभरणों से अलंकृत, महामाया रूपिणी, जब अव्यक्त रूपिणी व्यक्ता बन जाती हैं, वे ही सीता कहलाती हैं। उनके अनेक रूप हैं।

उनका पहिला रूप तो शब्द ब्रह्ममयी है। ये स्वाध्याय काल में प्रसन्न होकर बोध को प्रकट करने वाली होती हैं।

उनका द्वितीय रूप वह है, जो पृथ्वी पर हल के अग्रभाग-सीता-से उत्पन्न हुई हैं।

तीसरा उनका रूप ईकार स्वरूपा है। यह उनका अव्यक्त स्वरूप है, अव्यक्त स्वरूपा होने से ही वे सीता कहलाती हैं। इन तीनों ही स्वरूपों का नाम सीता है।

शौनकीय तन्त्र में भी यही बात कही है—श्रीरामचन्द्रजी के सान्निध्य वश से वे जगदानन्दकारिणी हैं। समस्त प्राणियों की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय को करने वाली हैं। सीता भगवती

हैं, मूल प्रकृति संज्ञक हैं। ब्रह्मवादी गण प्रणव स्वरूपा होने से ही इन्हे प्रकृति कहते हैं, ब्रह्मसूत्र का जो अथातो ब्रह्म जिज्ञासा, प्रथम सूत्र है, वह इन्हीं के अर्थ का द्योतक है। ये भगवती सर्वदेव मयी, सर्व वेदमयी, सर्व लोकमयी, सर्वकीर्ति मयी, सर्व-धर्ममयी तथा सर्वाधार कार्य कारणमयी हैं। ये महालक्ष्मी स्वरूपा देवेश जो परमात्मा हैं उनका भिन्ना भिन्न स्वरूपा हैं। ये चेतना चेतनात्मिका, ब्रह्म थावरात्मिका, इन समस्त चराचर जीवों के गुणकर्मों के भेद से सबकी शरीर भूता हैं। देवता, ऋषि, मनुष्य तथा गन्धर्व स्वरूपा हैं। असुर, राक्षस, भूत, प्रेत, पिशाचादि जो भूत हैं उनको शरीर रूपा हैं। भूत, इन्द्रिय, मन, प्राण रूपा हैं। वे देवी तीन रूपों में प्रकट होती हैं। १–शक्ति आसन इच्छा शक्ति, २-क्रिया शक्ति और ३–तीसरी साक्षात् शक्ति स्वरूपा हैं। इनमें से भी इच्छा शक्ति तीन प्रकार की होती हैं १–श्र.देवी, २–भूदेवी और ३–नीला देवी। ये देवी भद्र रूपिणी, प्रभाव रूपिणी, सोमरूपिणी, सूर्य रूपिणी और अग्नि रूपिणी हैं। सोम रूपिणी होकर वे ओषधियों का पालन पोषण करती हैं, ये ही कल्पवृक्ष, पुष्प, फल, लता, गुल्म, अन्य ओषधियों तथा दिव्यओषधियों की स्वरूप भूता होती हैं। देवताओं का जो 'महत्स्तोम' फल है उसे देने वाली तथा अमृत द्वारा तृप्ति कराने वाली होती हैं, देवताओं को अमृत से, समस्त जीवों को उनके अन्नों द्वारा तृप्ति करती हैं।

ये ही सीतादेवी सूर्यादि जितने भी समस्त भुवन हैं उन सब लोकों को प्रकाशित करने वाली हैं। काल की जो दिन, रात्रि, निमेष से लेकर घटिका पर्यन्त कलाये हैं, अष्ट प्रहरयुक्त दिन रात्रि के जो पक्ष, मास, ऋतु और अयन तथा सवत्सरादि जितने भेद हैं, उनसे मनुष्यों की जो सौ वर्ष की आयु

कल्पना की गयी है। उस आयु के रूप में वे सीतादेवी ही प्रकाशित होती हैं। काल के जितने भी छोटे बड़े, विलम्ब तथा शीघ्रता से उपलक्षित होने वाले भेद हैं वे सब इन्हीं के स्वरूप हैं।

वे ही अग्नि स्वरूपा हैं। प्राणियों के उदरों में जठराग्नि रूप में रहकर उन्हें भूख प्यास लगाती हैं। साक्षात् अग्नि रूप से देवताओं का मुख होकर उनके भागों को पहुँचाती हैं। वनौषधियों में शीतोष्ण रूप से होकर उन्हें बढ़ाती हैं और काष्ठों में नित्य रूप से भीतर रहकर अनित्य रूप से ईंधन में जलकर स्थित रहती हैं।

ये ही सीताजी श्रीदेवी, भूदेवी और नीला देवी के रूप में प्रभु इच्छा से तीनों लोकों का धारण पोषण करती हैं। श्री अर्थात् लक्ष्मी रूप में तो समस्त लोकों को श्री सम्पन्न करती हैं। भू अर्थात् पृथ्वी रूप में सातों समुद्रों सहित चौदहों भुवनों की आधार भूता होकर सबको व्यक्त करती हैं और नीला अर्थात् आदि शक्ति विद्युन्माला सदृश मुख वाली होकर समस्त प्राणियों को सर्वरूप से भुवनों के ऊपर नीचे रहकर उन्हें धारण करती हैं। क्रियाशक्ति स्वरूप से–श्रीहरि के मुख से नादरूप से प्रकट हुईं। नाद से बिन्दु और बिन्दु से ओंकार का आविर्भाव हुआ। ओंकार से परे राम वैखानस पर्वत है। उस पर्वत की कर्म और ज्ञान कई शाखायें हैं, वे ही वेदत्रयीमय सर्वार्थ दर्शन आदि शास्त्र है। ऋग्, यजु और साम इन्हीं को त्रयी कहते हैं। कार्य सिद्धि के लिये चौथा अथर्व वेद भी है। वेद के मन्त्र तीन ही प्रकार के होते हैं। १–एक तो वे जिनमें भिन्न-भिन्न देवताओं के स्वरूपों का वर्णन है २–दूसरे वे मन्त्र हैं जिनमें यज्ञों की विधियों का निर्देश किया गया है और तीसरे वे मन्त्र हैं, जिनका

गान यज्ञों में होता है। इसीलिये ऋक, यजु और साम ये ही वेदत्रयी कहाते हैं। किन्तु यज्ञों मे ब्रह्मा, होता, अध्वर्यु और उद्गाता चार ऋत्विज होते हैं, इसीलिये आभिचारिक कर्मों वाले अथर्ववेद को चौथा वेद कहते हैं। वास्तव मे तो वह ऋक, साम और यजुर्वेद के ही अन्तर्गत है।

ऋग्वेद की इक्कीस शाखायें, यजुर्वेद की एक सौ नौ, सामवेद की सहस्र और अथर्ववेद का केवल पाँच ही शाखायें हैं। इन वेदों में सर्वश्रेष्ठ वैखानस मत है। वे वैखानस श्रीराम जी ही हैं। उन्हीं का मुनियों द्वारा नित्य स्मरण होता है।

उन वेदों के कल्प, व्याकरण, शिक्षा, निरुक्त, ज्योतिष और छन्द छः अङ्ग और अयन, मीमांसा, न्याय ये उपाङ्ग हैं। इन सबको सगति लगाने का निबन्ध है। स्मृतियों मे ऋषियों ने अपने दिव्य ज्ञान का स्मरण किया है। १–इतिहास पुराण, वास्तुवेद, धनुर्वेद, गन्धर्व वेद और आयुर्वेद ये पॉच उपवेद हैं। दण्ड, नीति और व्यापार विद्या तथा परतत्त्व मे प्राण जय करके स्थिति ये दो नीति शास्त्र हैं। इस प्रकार चार वेद, छः वेदाङ्ग, तीन उपाङ्ग, स्मृतियॉ, पॉच उपवेद, दो नीति शास्त्र इस प्रकार इक्कीस भेदयुक्त यह स्वतः प्रकाश वैखानस शास्त्र है।

वैखानस ऋषि के हृदय मे सर्वप्रथम विष्णु वाणी समुद्भूत हुई। वही वाणी देहधारियों की उन्नति रूप मे वेदत्रयी होकर प्रकटित हुई। वह वाणी ही सीता है। उसके दो रूप हैं। १–पहिला रूप तो सनातन ब्रह्ममय क्रिया शक्ति रूप है। दूसरा इच्छा शक्ति। पहिली जो क्रिया शक्ति रूपा हैं वे भगवान् की साक्षात् शक्ति हैं, वे भगवान् से कभी विलग नही होतीं। भगवान् के संकल्पानुसार ही वे चलती हैं, जहाँ भी भगवान् का

अवतार होगा ये साथ ही साथ रहेंगी, ये निमेष उन्मेष से लेकर सृष्टि, स्थिति प्रलय करने वाली तिरोधान और अनुग्रहादि समस्त सामर्थ्यों से युक्त होती हैं। ये शक्तिवान् भगवान् की शक्ति स्वरूपा हैं।

अब दूसरी जो इच्छा शक्ति हैं, उनके तीन भेद हैं। पहिली योगशक्ति, दूसरी भोगशक्ति, और तीसरी वीरशक्ति। योग शक्ति तो भगवान् के वक्षःस्थल पर श्रीवत्स के चिन्ह रूप से विश्राम करती है। भगवान् प्रलय के समय जब योग निद्रा में स्थित होकर विश्राम करते हैं तब ये ही उनकी आश्रया होती हैं।

दूसरी भोग शक्ति हैं। संसार के जितने भी भोग हैं, उनकी ये ही अधिष्ठातृ देवी हैं। स्वर्ग की जो कल्पवृक्ष, कामधेनु, चिन्तामणि, शङ्ख, पद्मादि नौ निधियाँ हैं, इनमें ये भोग रूपा शक्ति रहती हैं। अग्निहोत्र, अष्टाङ्ग योग, उपासनादि से प्राप्त भोग, भवन, विमान, भगवद् अर्चन, पितृ पूजा, अन्नादि भोग पदार्थ, नाना प्रकार के पेय पदार्थ जो भी भोग प्राप्त होते हैं, उन समस्त सामग्रियों का सम्पादन ये ही भोगरूपा भोगशक्ति करती हैं।

तीसरी वीरशक्ति हैं। ये चतुर्भुजा हैं। इनके दो हाथ तो अभय और वरदान की मुद्रा में अवस्थित हैं। दो हाथों में क्रीड़ा कमल सुशोभित हैं। माथे पर किरीट मुकुट शोभायमान है। सम्पूर्ण अङ्ग दिव्याभूषणों से सुशोभित हैं, देवता उन्हें चारों ओर से घेरे हैं, वे कल्पवृक्ष के मूल में दिव्यासन पर संस्थित हैं। चार श्वेत गजराज रत्न जटित कलशों द्वारा अमृत जल से उनका अभिषेक कर रहे हैं। जितने भी ब्रह्मादि देव हैं, वे सब उनकी स्तुति कर रहे हैं। वे अणिमादि अष्ट ऐश्वर्य सम्पन्ना हैं। उनके सम्मुख खड़ी स्वर्ग की कामधेनु नतमस्तक होकर उनकी स्तुति

कर रही हैं। मूर्तिमान् वेद शास्त्र उनकी बन्दी की भाँति वन्दना कर रहे हैं, स्वर्गीया अप्सरायें उनकी सेवा में तत्पर हैं। सूर्य चन्द्र दीपक बनकर प्रकाश प्रदान कर रहे हैं। देवर्षि नारद तथा तुम्बुरु आदि गन्धर्व उनके गुणों का गान कर रहे हैं। राका सिनीवाली आदि अमावस्या की अधिष्ठातृ देवियाँ उनके ऊपर छत्र ताने हुए हैं। ह्लादिनी शक्ति तथा माया शक्ति उभयपार्श्व मे खड़ी होकर चँवर डुला रही हैं। स्वाहा तथा स्वधा व्यजन कर रही हैं। भृगु पुण्यादि महात्मा उनकी सन्निधि पूजा कर रहे हैं। माता का जो दिव्यासन है, जिस पर वे विराजमान हैं, वह अष्ट दल कमल के आकार का है। उस पर विराजमान महादेवी समस्त कार्य कारणों को निर्मातृ हैं। इस प्रकार इन भगवान् की इच्छा शक्ति का तीसरी वीर शक्ति का भगवान् से पृथक निवास मानकर उनका ध्यान करना चाहिये। वे वस्त्राभूषणों से अलकृत होकर स्थित हैं। समस्त देवगण श्रद्धाभक्ति और स्थिर मति से इन चतुर्भुजा वीर शक्ति की पूजा करते हैं।

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! यह मैंने आपसे भगवती सीताजी के स्वरूप का कुछ तात्त्विक वर्णन किया। अब आप योग चूडामणि उपनिषद् के सार सिद्धान्त को श्रद्धा सहित श्रवण करने की कृपा करें।"

छप्पय

त्रयी वेदमय देवि सनातन ब्रह्म रूपिणी।
इच्छा शक्ति स्वरूप प्रलय में योग धारिणी॥
भोग रूपिणी बनें विविध भोगनिकूँ देवें।
वीर रूपिणी मातु देव श्रद्धातें सेवें॥
चतुर्भुजा वर, अभय-कर, अन्य करनि क्रीड़ा कमल-
दिव्याभूषण धारिणी, बसहिँ कलपतरु तर विमल

(२)

श्वेतहस्ति अभिषेक खड़े घेरें सब सुरगन।
हरषि उड़ेले कलश अमृत जल भरे रतनमनि ॥
अणिमादिक ऐश्वर्य युक्त ऋषि वेद सराहें।
गान करें गन्धर्व कृपा सब सुरगन चाहें ॥
छत्र करें राका सिनी, माया ह्लादिनि चँवर करि।
व्यजन स्वधा स्वाहा करें, सीता-लक्ष्मी हिये धरि ॥

इति सीतोपनिषद्-सार समाप्त

(४८) योग चूडामणि–उपनिषद्-सार (१)

[३१२]

योगचूडामणिं वक्ष्ये योगिनां हितकाम्यया ।
कैवल्यसिद्धिदं गूढ़ सेवितं योगवित्तमैः ॥*

(योग० चू० उ० १ म०)

छप्पय

चूडामणि उपनिषद् योग की अति सुखकारी ।
षड अगनि जो योग सविधि तिहि कहिबे बारी ॥
मूल गुदादल चारि लिंग छै स्वाधिष्ठान हैं ।
अनहद द्वादश नाभि कंठ षोडस विशुद्ध हैं ॥
द्वै दल आज्ञा भौंह मधि, ब्रह्मरन्ध्र महँ सहसदल ।
नाभि-कंद कुण्डलि सुपति, जगे होइ योगी विमल ॥

योग के सम्बन्ध की अनेक उपनिषदें हैं, वैसे तो उन सब में प्रायः सभी एक सी हो बातें हैं । फिर भी किसी में कोई बात विशेष है किसी में कोई । इसीलिये बार बार सर्वत्र एक सी

* योग चूडामणि उपनिषद् को योगियों के हित की कामना के निमित्त कहते हैं । यह उपनिषद् गूढ है, मोक्ष की सिद्धि को देने वाली है, जो योगवेत्ता योगी हैं, उनके द्वारा यह सेवित है ।

बातें बतायी हैं, उन सबको बार-बार कहने से अभिप्राय इतना ही है, कि योगशास्त्र बहुत ही गम्भीर विषय है, सबको पढ़कर जो मार्ग अनुकूल पड़े, जिसमें अपनी स्वाभाविक प्रवृत्ति हो, उसी का अभ्यास करना चाहिये। योग के मार्ग की ओर सब नहीं बढ़ सकते। जिनके पूर्व जन्म के योग के संस्कार हों वे ही इस ओर आ सकते हैं। योगाभ्यासियों का शरीर सर्वसाधारण लोगों की भाँति नहीं होता। योगाभ्यास का शरीर पृथक् ही होता है। साध्य वस्तु तो एक ही है, साधन भिन्न-भिन्न प्रकार के होते हैं। जैसा साधक होता है, वैसे ही साधन द्वारा वह साध्य वस्तु को प्राप्त करने में समर्थ होता है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! चूडा शिर को कहते हैं, उसमें पहिनने वाली मणि का नाम चूडामणि है। अर्थात् सर्वोत्तम अलंकार। यह योग सम्बन्धी उपनिषद् सर्वश्रेष्ठ है, इसमें योग का जिस प्रकार सरलता से तात्विक वर्णन है, वैसा वर्णन अन्य योग सम्बन्धी उपनिषदों में नहीं है। योगियों के हित की कामना से योगचूडामणि उपनिषद को कहते हैं। यह गूढ़ उपनिषद् कैवल्य जो मोक्ष है उसको सिद्धि को देने वाली है। ये अष्टाङ्ग न कहकर आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि इन छः को ही षडाङ्ग योग कहते हैं।

आसन से आरंभ करने से कहते हैं--एक तो सिद्धासन है, दूसरा पद्मासन है। षट्चक्र हैं, सोलह आधार हैं, तीन लक्ष्य हैं, पाँच व्योम हैं। जो अपनी देह में इतनी वस्तुओं को नहीं जानता, भला बताइये उसको सिद्धि कैसे प्राप्त हो सकती है। सिद्धासन और पद्मासन से बैठकर षट्चक्रों का अनुसन्धान करे। षट्चक्रों में सबसे पहिला चार दल वाला मूलाधार चक्र है, दूसरा स्वाधिष्ठान चक्र है वह छैः दल वाला है। तीसरा मणि पूरक

चक्र नाभि प्रदेश में दश दल वाला है। चौथा हृदय में बारह दल वाला अनाहद चक्र है पाँचवां कण्ठ में सोलह दल वाला विशुद्ध चक्र है। छटा दोनों भौंहों के मध्य मे दो दल वाला आज्ञा चक्र है। सबसे अन्त में महापथ जो ब्रह्म रन्ध्र है उसमे सहस्र दल वाला सहस्रार चक्र है।

पहिला चार दल वाला मूलाधार चक्र गुदा से ऊपर है, दूसरा स्वाधिष्ठान चक्र गुदा से ऊपर योनि स्थान है उसमें है। उस योनि स्थान और गुदा के मध्य में काम रूप कहा गया है। उस चार दल वाले मूलाधार गुदा स्थान वाले को ही कामाख्या कहते हैं। उस मूलाधार के मध्य में ही योनि स्थान कामाख्या नाम से है वह सिद्धों द्वारा वन्दित स्थान है। उस कामाख्या योनि के मध्य मे एक महालिङ्ग है, वह पश्चिमाभिमुख स्थित है। मूलाधार और स्वाधिष्ठान चक्रों से ऊपर नाभि देश में मणिपूरक चक्र है, उसकी आभा दिव्यमणि के सदृश है, उसे जो जान लेता है वह योगवित् हो जाता है। प्रतप्त सुवर्ण के सदृश जिसकी कान्ति है, जो विद्युत् के सदृश प्रकाशवान् है। वह स्थान त्रिकोण है, अग्नि का स्थान है, मेढ् से नीचे प्रतिष्ठित है। समाधि अवस्था मे अनन्त विश्वतोमुख परमज्योति के यहाँ दर्शन होते हैं। उस परमज्योति के महायोग मे दर्शन होने पर फिर आवागमन नहीं होता।

इस नाभि चक्र का नाम स्वाधिष्ठान चक्र क्यों है? इस पर बताते हैं–स्व शब्द यहाँ प्राणों का वाचक है, प्राणों का अधिष्ठान होने से ही यह चक्र स्वाधिष्ठान कहलाता है। स्वाधिष्ठान का आश्रय होने से इसे मेढ् भी कहते हैं। इस नाभि में स्थित जो छोटे-छोटे सूक्ष्म तन्तुओं से मणि के सदृश ओत प्रोत। स्थान है उसका नाम कन्द है। उस कन्द स्थान में सुषुम्ना

है। उस नाभि स्थित मंडल में जो चक्र है उसे ही मणिपूरक कहते हैं वह पुण्य पाप से विवर्जित बारह दल वाला महाचक्र है। जीव तभी तक इस संसार चक्र में भ्रमता रहता है, जब तक यथार्थ तत्त्व को नहीं जानता।

नाभि से नीचे और मेढ़ से ऊपर कन्द स्थानों में एक योनि स्थान है, वह पक्षी के अंडे के आकार का है। वहीं योनि स्थान में बहत्तर सहस्र नाड़ियाँ उत्पन्न हुई हैं। उन सब बहत्तर सहस्र नाड़ियों में से प्राण वाहिनी नाड़ियाँ मुख्य हैं, उन बहुत-सी प्राण वाहिनी नाड़ियों में से भी दश नाड़ी प्रधान बतायी हैं। उनके नाम १--इडा, २--पिङ्गला, ३- सुषुम्ना, ४--गान्धारी, ५--हस्तिजिह्वा ६--पूषा, ७--यशस्विनी, ८--अलम्बुसा, ९--कुहू और १०--शङ्खिनी हैं। योगियों को चाहिये कि इन नाड़ी चक्रों का प्रथम परिचय प्राप्त करले।

नासिका के बायीं ओर इडा है, दायीं ओर पिङ्गला है। इन इडा पिङ्गला दोनों के मध्य में सुषुम्ना नाड़ी है। बायें नेत्र में गान्धारी नाड़ी है। दक्षिण नेत्र में हस्ति जिह्वा है। दाहिने कान में पूषा और बायें कान में यशस्विनी है। अलम्बुसा नाम की नाड़ी मुख में है। लिङ्ग देश में कुहू नाड़ी है और मूल स्थान गुदा में शङ्खिनी है। इस प्रकार नौ द्वारों में नौ नाड़ियाँ और दशमी सुषुम्ना बीच में है। ये सब नाड़ियाँ दशों द्वारों को घेरे हुए बैठी हैं। इडा, पिङ्गला और सुषुम्ना ये तीनों प्राण मार्ग में स्थित हैं। ये निरन्तर प्राणों को बहाती रहती हैं। इनमें से इडा के चन्द्रमा, पिङ्गला के सूर्य और सुषुम्ना के अधिष्ठातृ देव अग्नि हैं।

दस प्राण हैं। इनके नाम पहिला प्राण, दूसरा अपान, तीसरा समान, चौथा व्यान, पाँचवा उदान, छटवाँ नाग, सातवाँ

कूर्म, आठवाँ कृकर, नवॉ देवदत्त और दसवाँ धनञ्जय है। इनमें से प्राण हृदय में रहते हैं। अपान नित्य ही गुदा मण्डल मे रहते हैं। समान नाभि देश मे, उदान कण्ठ के बीच मे और व्यान समस्त शरीर में व्याप्त रहते हैं। ये पॉच तो प्रधान प्राण हैं। पाँच जो उप प्राण हैं उनमें से नाग तो उद्गार डकार लेने में, कूर्म आखों को खोलने-मीचने मे, क्षुधा लगाने में कृकर तथा जम्हाई लेने में देवदत्त नाम क प्राण रहते हैं। पॉचवॉ जो उप प्राण धनञ्जय नाम वाला है वह समस्त शरीर मे व्याप्त रहता है। यहाँ तक कि शरीर के मृतक हो जाने पर नौ प्राण तो शरीर को छोड़कर चले जाते हैं, किन्तु यह धनञ्जय जब तक शरीर जलाया नहीं जाता तब तक भी मृतक शरीर में बने रहते हैं। इसप्रकार समस्त जीव जन्तु इन समस्त नाडियों में भ्रमते रहते हैं। जैसे भुजदण्डो से बल पूर्वक फेंकने से गेंद उछलती है, उसी प्रकार इन प्राण अपान तथा समानादि प्राणों द्वारा फेंका हुआ यह जीव सदा भ्रमता रहता है, उछलता कूदता रहता है। एक स्थान पर निश्चिन्त होकर बैठता नहीं। प्राण और अपान वश में हुआ जीव ऊपर नीचे दोडता रहता है। बायीं नासिका और दायीं नासिका द्वारों से आता जाता रहता है। चञ्चल होने से दिखायी नहीं देता। जैसे कोई श्येन पक्षी है, उसके पैर में रस्सी बाँधकर वह रस्सी पेड की डाल मे बाँध दी है, तो वह बार बार उडता है, रस्सी से बधा रहने से बार बार फिर आकर उसी डाली पर बैठता है। इसी प्रकार यह जीव गुणों से बँधा रहने से प्राण अपान द्वारा आता जाता रहता है। प्राण अपान के वशीभूत होकर जीव ऊपर-नीचे आता जाता रहता है। अपान तो प्राण को खींचता है और प्राण अपान को खींचता है। इस प्रकार से ऊपर नीचे-

ऊपर नीचे आते जाते हैं। इन प्राण और अपान दोनों की गति को जो वास्तविक रूप से जान जाता है वही योग को जानने वाला योगवित है। देखो, हंकार से तो प्राण बाहर जाता है। सकार से भीतर घुस जाता है। इस प्रकार 'हंस' जो परम मंत्र है, इसे जीव सदा सर्वदा आठों प्रहर जपता ही रहता है। दिन रात्रि में इक्कीस सहस्र छै सौ बार इस मंत्र का जप करता है। इसी को अजपा गायत्री भी कहते हैं। यह अजपा गायत्री मंत्र योगियों को मोक्ष देने वाला है। इसके संकल्प मात्र से ही समस्त पापों से साधक छूट जाता है। इस अजपा गायत्री के सदृश विद्या, इसके सदृश जप तथा ज्ञान न तो संसार में दूसरा है न होगा। कुण्डलिनी से समुद्भूत यह जो गायत्री है वह प्राण धारिणी है। यही प्राणविद्या तथा महाविद्या है। जो इसे भली भाँति जानता है वही वेद-वेत्ता है।

देखो, कन्द स्थान से ऊपर कुण्डली शक्ति आठ प्रकार से कुण्डली आकृति से ब्रह्म द्वार के मुख को ढाप कर सुखपूर्वक बैठी हुई है। जिस ब्रह्मद्वार से प्राण अनामय रूप से जाते हैं, यह परमेश्वरी शक्ति उसी द्वार को मुख से रोककर सोयी हुई है। तब यह सोई हुई कुण्डली शक्ति जगे कैसे ? तो भीतर की जो वन्हि--अग्नि--है उसे मन द्वारा वायु से अग्नि को प्रदीप्त किया जाय, तब यह उठकर जैसे डोरा में पुई हुई सुई जहाँ-जहाँ प्रवेश करती है वहीं-वहीं उसके साथ-साथ डोरा भी जाता है उसी प्रकार सुषुम्ना का मुख मुक्त जाने पर उसमें प्राण वायु प्रवेश करेगी तो उसके साथ ही साथ ऊपर को सूक्ष्म गात्र भी उसमें प्रवेश कर जायगा। जैसे कुंजी ताली से ताला खोलकर किवाड़ खोल दी जाती है–द्वार को खोला जाता है, उसी प्रकार

मोक्ष का द्वार कुंडलिनी के जाग्रत हो जाने पर खुल जाता है। कुंडलिनी को जाग्रत कैसे करे इसे बताते हैं।

पहिले दृढ़ता के साथ पद्मासन को बाँध सावधानी के साथ बैठ जाय। दोनों हाथों को संपुटित करके—अर्थात् एक हाथ पर दूसरे हाथ को दोने की भांति बनाकर रखकर शरीर को सीधा करे। फिर चिबुक को दृढता से खींचकर छाती में सटाले। फिर प्राणों की चेष्टा पर चित्त को लगाकर ध्यान करो। फिर बार-बार गुदा स्थित अपान वायु को खींच खींचकर गुदा को बार-बार भींच भींचकर ऊपर अग्नि स्थान की ओर ले जाय। जैसे बुझी अग्नि को पंखा की वायु कर करके प्रज्वलित करते हैं, वैसे ही अपान वायु को बार-बार ऊपर की ओर खींचने से कंद स्थानीय जो अग्नि है, वह प्रज्वलित हो जायगी। वह कंद स्थान अग्नि का ही स्थान है, किन्तु अग्नि मन्द होने से कुण्डलिनी वहाँ सो गयी है, उसने अपने मुख से सुषुम्ना के मुख को ढक लिया है, इससे उसमे वायु का प्रवेश नहीं होने पाता। जब अपान वायु नीचे से बार-बार उस अग्नि को प्रज्वलित कर देगी तो उसकी उष्णता से कुण्डलिनी जाग जायगी। और वह प्राणों सहित सुषुम्ना द्वार से ऊपर की ओर चली जायगी। उसके सुषुम्ना में प्रवेश करते ही उस शक्ति के प्रभाव से अतुल बोध हो जायगा।

बारम्बार पद्मासन से वायु को ऊपर ले जाने से शरीर में श्रम होगा। श्रम से शरीर में स्वेद बिन्दु उभर आवेंगे। उन स्वेद कणों को वस्त्र से पोंछे, उसे शरीर में हाथों से उस प्रकार मल ले जैसे तैल मर्दन करते हैं। इससे शरीर में तेज आवेगा।

योग के साधक को अपने आहार को संयमित करना चाहिये। उसे कड़वे, खट्टे तथा नमकीन पदार्थों को नहीं खाना—

चाहिये। अधिकतर दूध का सेवन करे। योगी को ब्रह्मचारी और मिताहारी बनकर रहना चाहिये। इस प्रकार निरन्तर नियमित श्रद्धापूर्वक अभ्यास करने से एक वर्ष के ऊपर ही ऊपर उसे सिद्ध प्राप्त हो जायगी, इसमें संशय न करें। आहार सुस्निग्ध हो, पेट के तीन ही भागों को भरे, एक भाग को वायु आने जाने को खाली रखे। जो इस प्रकार केवल सूक्ष्म भोजन शिव की प्रसन्नता के निमित्त भगवत् प्रसाद बुद्धि से खाता है उसी का नाम मिताहारी है।

कन्द स्थान ऊपर कुण्डली शक्ति आठ प्रकार से कुण्डली-गुड़ मुड़ी मारे सो रही है। वह मूढ़ पुरुषों के बन्धन के निमित्त तथा योगियों को मोक्ष देने के निमित्त वहाँ स्थित है।

देखो, एक तो महामुद्रा नभोमुद्रा है, दूसरे ओड्यान, जालन्धर और मूल ये तीन बन्ध हैं। जो इन वस्तुओं को जान लेता है वह योगी मुक्तिभाजन हो जाता है।

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो ! इस प्रकार मैंने प्रसुप्त कुंडलिनी को जगाने की विधि बतायी अब आगे जैसे तीनों बन्धों का, महामुद्रा, खेचरी बज्रौली आदि का वर्णन होगा उसे मैं आगे आपसे कहूँगा।"

छप्पय

देह माहिँ दश प्रान बहत्तर सहस नाड़ि सब।
हैं प्रधान दश द्वार बसैं लखि योगि तरहिँ भव॥
कुंडलिनी जगि जाइ प्रान तन ऊपर आवै।
प्रान सुषुम्ना जाय मुक्ति पदवी नर पावै॥
पद्मासन दृढ़ बाँधिकर, पुटित अंक में तानि तन।
चिबुक वक्ष कुंडलि जगी, अनल अनिल जरि प्रविसिमन॥

—०—

(४८) योग चूड़ामणि-उपनिषद्-सार (२)

[३१३]

युक्तं युक्तं त्यजेद् वायुं युक्त युक्त प्रपूरयेत्।
युक्तं युक्तं प्रबध्नीयादेवं सिद्धिमवाप्नुयात् ॥*

(यो० चू० उ० ११६म०)

छप्पय

है मुद्रा अरु बन्ध तीनि योगी ही जानें।
पायु वायु कूँ खींचि बन्ध मूलहु तिहि मानें॥
उदर पीठि में सटै होइ ओड्यान बन्ध सो।
चिवुक हिये में लगै जाल बँधि जालंधर सो॥
जीभ उलटि शिर कुहर में, घुसै खेचरी होइ सो।
बिन्दु वायु वश होइँ अस, मन वश में ह्वै जाइ सो॥

योग साधना बडी सावधानी से करनी चाहिये। योग की साधना वाले साधक को सर्वप्रथम तो यह निश्चय कर लेना चाहिये कि काल नित्य है शाश्वत है। ये जो घड़ी, पल, प्रहर, दिन, रात्रि, पक्ष, ऋतु, मास तथा सम्वत्सरादि हैं ये काल नहीं

---

* बहुत ही सावधानी से शनै शनै वायु को छोड़े और शनै शनैः उदर में उसे पूरे—अर्थात् भरे। बड़ी सावधानी से युक्तिपूर्वक भरी हुई वायु का धारण किये रहे। इसी प्रकार युक्ति युक्ति से प्राणायाम करने वाला साधक सिद्धि को प्राप्त कर सकता है।

भाँति जानकर इसका अभ्यास करता हो उसे कोई रोग पीड़ा नहीं पहुँचा सकता। वह कर्मों में लिपायमान नहीं होता। किसी भी बाधा से बाधित नहीं होता। जब जिह्वा कपाल कुहर के आकाश में विचरण करती है, तो चित्त भी उसी आकाश में मँडराता रहता है। इसीलिये इस मुद्रा का नाम खेचरी-नभो मुद्रा है। यह मुद्रा सभी सिद्धों द्वारा नमस्कृत है। देखो, ये समस्त शरीर वीर्य मूल हैं-विन्दु द्वारा आधारित हैं। वीर्य शिराओं में रहता है। वे शिरायें ही पैर के अँगूठे से लेकर मस्तक पर्यन्त वीर्य को घुमाती हैं। जब खेचरी मुद्रा हो जायगी, लम्बी जिह्वा कपाल कुहर में प्रवेश कर जायगी। तब सब शिरायें बँध जायँगी, उसका वीर्य कभी भी क्षीण नहीं होगा। चाहे भले ही कामिनी द्वारा वह आलिङ्गित ही क्यों न हो। मरण तो विन्दुपात से होता है, जब तक शरीर में विन्दु है, तब तक भला मृत्यु हो ही कैसे सकती है ? और जब तक खेचरी मुद्रा बँधी है, तब तक विन्दुपात भी कैसे हो सकता है ? किसी प्रकार कामाग्नि प्रज्वलित होने पर विन्दु हुताशन में गिर भी गया, तो योनिमुद्रा शक्ति के निरोध से फिर वह लौटकर ऊपर की ओर-अपने स्थान में-आ सकता है। वह विन्दु लौटकर ऊपर कैसे आ सकता है, इस बात को बताते हैं—

विन्दु दो प्रकार का होता है एक पाण्डर वर्ण—सफेद रंग का, दूसरा लोहित-लाल रंग का। पांडर को शुक्र कहते हैं, लोहित को महारज कहते हैं। रज का वर्ण सिंदूर के सदृश होता है वह रवि स्थान में स्थिर रहता है। शुक्र वर्ण का जो विन्दु है, वह चन्द्र स्थान में स्थित रहता है, इन दोनों का ऐक्य होना सुदुर्लभ है। बिन्दु ब्रह्मा हैं। रज शक्ति है। विन्दु चन्द्रमा है, रज रवि है। इन दोनों का ऐक्य हो जाने से परमपद की प्राप्ति हो

अज्ञानियों के लिये अधोगामी होता है, इस प्रकार प्रणव रहता है, जो प्रणव की ऐसी महिमा को जानता है वास्तव में वही वेद वेत्ता है।

ज्ञानियों के लिये तो यही प्रणव अनाहद शब्द रूप से ऊपर की ओर ले जाने वाला होता है। उनको वह अनाहत् शब्द तैल धारावत अविछिन्न दीर्घ घंटा निनादवत् सुनायी देता है। प्रणव को ध्वनि भी उसमें आगे तद्वत् सुनायी देती है उसी को ब्रह्म कहते हैं। वह ब्रह्म ज्योतिर्मय है, अग्र है, अवाच्य है, सूक्ष्माति सूक्ष्म बुद्धि द्वारा ही महात्माओं से जाना जा सकता है। जो उसे जान लेता है वही वेदवेत्ता कहलाता है। जाग्रत अवस्था में दोनों नेत्रों के मध्य में "हंस" इस नाम से प्रकाशित होता है। इसमें सकार खेचरी है और 'तत्त्वमसि' के 'त्वं' पद का बोधक है। हकार परमेश स्वरूप है और वह "तत्त्वमसि' के 'तत्' पद का बोधक है, जीव सकार का ध्यान करता है तो निश्चय ही हकार-परमेश-स्वरूप हो जाता है।

देखिये, इन्द्रियों द्वारा जीव ही बँध जाता है, आत्मा कभी नहीं बँधता। वही चैतन्य ममत्व के कारण जीव कहलाता है, जब वह ममत्व शून्य हो जाता है तो केवल ब्रह्म-स्वरूप हो जाता है। भू, भुव और स्व ये तीन लोक हैं और सोम, सूर्य तथा अग्नि ये तीन देवता हैं। ये लोक तथा देव जिसकी मात्रा से-आश्रय से-रहते हैं उसी को परं ज्योति कहते हैं। वह परं ज्योति ओंकार ही है। वह ओंकार रूपा परं ज्योति क्रिया शक्ति, इच्छा शक्ति तथा ज्ञानशक्ति इस प्रकार ब्राह्मी, वैष्णवी और रौद्री नाम से प्रसिद्ध हैं। ये शक्ति ओंकार के ही सहारे रहती हैं। इसलिये वाणी द्वारा उसी का अभ्यास करे और मन के द्वारा भी उसी ओंकार ज्योति का जप करे।

चाहे पवित्रावस्था में हो, अथवा अपवित्रावस्था में भी क्यों न हो, जो नित्य निरन्तर प्रणव का जप करते हैं, वे कभी पापों में उसी प्रकार लिपायमान नहीं होते, जिस प्रकार जल में रहता हुआ भी कमल पत्र उसमें लिपायमान नहीं होता।

वायु के चलायमान होने से बिन्दु भी चलायमान हो जाता है और वायु के निश्चल होने से बिन्दु भी निश्चल हो जाता है। वायु के निरोध से योगी स्थाणु-त्व को प्राप्त हो जाता है, इसलिये वायु का ही निरोध करना चाहिये। जब तक शरीर में वायु स्थित है, तब तक जीवात्मा शरीर को छोड़कर जा ही नहीं सकता। जब तक दृष्टि दोनों भौंहो के मध्य में स्थित है तब तक काल का भय हो ही नहीं सकता। इसलिये अल्पायु को रोकने के निमित्त साधक को प्राणायाम मे तत्पर हो जाना चाहिये। इसीलिये ऋषि, मुनि, योगी, सदा प्राणों का निरोध करते हैं।

छत्तीस अगुल बाहर तक हंस प्रयाण करता है। नासिका के बायें तथा दायें भाग के मार्ग से जो प्राण आते जाते हैं, उन्हीं के आयाम को प्राणायाम कहते हैं। प्राणों को रोकने में केवल कुम्भक करने में योगी तभी सक्षम हो सकेगा, जब मलावृत नाड़ियों में से मल निकल कर नाड़ियों की शुद्धि हो जाय। बद्ध पद्मासन को बाँधकर योगी प्राण को चन्द्र नाड़ी-इड़ा-से पूरण करे-वायु को खींचे। जब तक सामर्थ्य हो तब तक यथाशक्ति प्राणों का धारण करके-कुम्भक करके-फिर सूर्य नाड़ी-पिंगला-से रेचक करे अर्थात् वायु को निकाल दे। अमृत के सदृश, दधि के सदृश, गौ के दूध के सदृश शुभ्र स्वच्छ धवल चन्द्र बिम्ब का प्राणायाम मे ध्यान करने से साधक सुखी होता है। अथवा विस्फुरित प्रज्वल संज्वाला पूज्य जो हृदय में स्थित आदित्य मण्डल है उसका प्राणायाम मे ध्यान करने से योगी सुखी होता

है। प्राण को पहिले इडा नाड़ी से पीवे फिर यथाशक्ति धारण करके पिंगला से उसका रेचन करे–निकाल दे। फिर इसके विपरीत पिंगला नाड़ी से पीवे और इड़ा से निकाले–रेचन कर दे। इस प्रकार बारम्बार सूर्य और चन्द्र नाड़ियों से वायु को पूरण, धारण और रेचन करे तथा उस समय चन्द्र, सूर्य दोनों बिन्दुओं का ध्यान करे, तो संयमी पुरुष की दो महीने के भीतर ही भीतर नाड़ियाँ शुद्ध हो जायँगी।

जब यथेष्ट मात्रा में वायु धारण करने की शक्ति हो जायगी, केवल कुम्भक करने का अभ्यास बढ़ जायगा, तो जठराग्नि प्रदीप्त हो जायगी। नाद की अभिव्यक्ति होने लगेगी तथा नाड़ियों के शुद्ध हो जाने पर शरीर रोगों से रहित हो जायगा।

जब तक शरीर में प्राण वायु स्थित है, तब तक अपान को रोके रहे। एक श्वासमयी मात्रा ऊपर नीचे गमन की गति वाली होती है। अर्थात् श्वास लेने में एक मात्रा का समय, श्वास छोड़ने में भी एक मात्रा का समय लगे। इस प्रकार रेचक, पूरक और कुम्भक के प्रणवात्मक प्राणायाम को करे। जैसे दो मात्रा समय में पूरक करे, आठ मात्रा समय में कुम्भक और चार मात्रा समय में रेचक। बारह मात्रा संयुक्त जब प्राणायाम होने लगे, सूर्य और चन्द्र जब द्वादश मात्रा संयुक्त हो जायँ तो दोषों के जाल को छिन्न-भिन्न कर देती हैं। पूरक को बारह करे, कुम्भक को सोलह और रेचक को दश ओंकार के समय में करे। तो यह एक प्राणायाम हुआ।

द्वादश मात्रा समय की प्राणायाम अधम है। चौबीस मात्रा समय की प्राणायाम मध्यम है। और छत्तीस मात्रा समय की प्राणायाम उत्तम बतायी है। यही प्राणायाम के उत्तम, मध्यम और अधम का निर्णय है।

पहिली अवस्था में शरीर में स्वेद होता है, मध्यम में कम्प और उत्तम में स्थान को प्राप्त होता है अर्थात् शरीर भूमि को त्यागकर अधर आकाश में स्थित हो जाता है। इसलिये वायु को रोककर प्राणायाम करना चाहिये।

योगी को चाहिये कि बद्ध पद्मासन में स्थित होकर पहिले अपने गुरुदेव तथा शिवजी को नमस्कार करे। फिर नासिका के अग्रभाग में दृष्टि को स्थिर करके एकाकी ही प्राणायाम का अभ्यास करे। पहिले शरीर के जो नव द्वार हैं, इन्हे निरुद्ध करके, वायु को दृढता के साथ बाँधकर, धारणा को दृढ़ करके, काल को अपान वायु और वन्हिसहित शक्ति को सचालित करे। इस विधि से आत्मध्यान सयुक्त होकर वायु को स्थिरता से मूर्धा में धारण करे। इस प्रकार प्राण निरोध पूर्वक जब तक योगी स्थित रहे तब तक महत् संग की स्तुति नहीं होती। अर्थात् उस समय तक साधक को परमानन्द की प्राप्ति होती है। इस प्रकार प्राणायाम होने पर पातक उसी प्रकार भस्म हो जाते हैं जिस प्रकार अग्नि लग जाने पर सम्पूर्ण ईंधन भस्म हो जाता है। यह प्राणायाम ससार रूप समुद्र के पार करने के लिये महासेतु के सदृश है।

देखो, आसनों के अभ्यास से रोगों का नाश होता है। प्राणायाम से पातकों का नाश होता है। प्रत्याहार से योगी मानसिक विकारों को छोड़ देता है। धारणा से मनो धैर्य को प्राप्त होता है अद्भुत ध्यान से चैतन्यता को प्राप्त होता है। और समाधि से शुभ अशुभ कर्मों को त्यागकर मोक्ष को प्राप्त हो जाता है। यही षडाङ्ग योग का फल है। बारह प्राणायाम से प्रत्याहार होता है। बारह प्रत्याहार से धारणा होती है। बारह धारणा से ध्यान होता है और बारह ध्यान से समाधि होती है।

अर्थात् प्राणायाम का परिपक्वता को प्रत्याहार, प्रत्याहार की परिपक्वता को धारणा, धारणा की परिपक्वता को ध्यान और ध्यान को परिपक्वता का ही नाम समाधि है।

जिस समय योगी को समाधि अवस्था में अनन्त विश्वतोमुख परंज्योति के दर्शन होने लगते हैं, तो उनके दर्शन से क्रियाकर्म यातायात कुछ भी नहीं रहता। अर्थात् उसका पुनर्जन्म नहीं होता मुक्त हो जाता है।

आसन को सुदृढ़ता से बाँधकर मेढ़ को दोनों पैर की एड़ियों से दबाकर, अर्थात् एक से गुदामार्ग को दूसरे से लिंग द्वार को रोककर, आँख, कान, तथा नाक के छिद्रों को उँगलियों से बन्द करके पवन को मुख से पीकर उदर को परिपूर्ण करे। चिबुक को हृदय में धारण करके वन्हि स्थान से अपान को प्राण सहित उठाकर मूर्धा में धारणा करे। इससे योगीश्वर विशेष तत्त्वसमता प्राप्त होतो है। वे तन्मन हो जाते हैं, अर्थात् मन और वायु स्थिर हो जाते हैं।

जब पवन गगन में जाकर प्राप्त हो जाता है, तब एक प्रकार की अनाहत महान् ध्वनि उत्पन्न होती है। वह ध्वनि घण्टानाद के सदृश और भी भाँति-भाँति के बाद्यों की भाँति होती है। ऐसी ध्वनियाँ जब सुनाई देने लगें, तब समझना चाहिये नाद सिद्धि हो गयी। इस प्रकार प्राणायाम से युक्त होने पर समस्त रोगों का क्षय हो जाता है। जो प्राणायाम से वञ्चित हैं उनके शरीर में नाना प्रकार के रोग उत्पन्न होते ही हैं। हिचकी आना, खाँसी, श्वास, शिर पीड़ा, कर्णपीड़ा कहाँ तक गिनावें नाना रोग शरीर में हो जाते हैं, क्योंकि शरीर रोगों का घर ही है। शरीर में पवन के व्यत्यय होने से ही रोगों की उत्पत्ति होती है। इसलिये पवन को, वायु को-प्राण को-वश में करना चाहिये। प्राणों को वश में

करते समय शीघ्रता न करे। देखो, सिंह, हाथी, घोड़ा, व्याघ्र शनैः शनैः ही वश मे किये जाते हैं, इसी प्रकार अव्यग्र भाव से शनैः शनैः वायु को वश में करे। शीघ्रता करेगा तो वह साधक का नाश कर देगी। बड़ी युक्ति से सावधानी के साथ शनैः शनैः वायु का त्यागन करे अर्थात् रेचक करे। फिर युक्ति के साथ शनैः शनैः वायु को पूरण करे और शनैः शनैः ही उसे बाँधे रखे अर्थात् कुंभक करे। इस प्रकार साधन करने से साधक सिद्धि को प्राप्त होगा। ये इन्द्रियाँ विषयों मे विचरती रहती हैं। इन्हें सावधानी से विषयों से हटाकर आत्मा में लगाने का ही नाम प्रत्याहार है। जैसे तीसरे पहर सूर्य सूर्यप्रभा को हरण कर लेता है इसी प्रकार तृतीयांग जो धारणा, ध्यान, समाधि है—उसमें स्थित हुआ योगी मन के विकारों को हरण कर लेता है। इस प्रकार यह योग चूडामणि उपनिषद् समाप्त हुई।"

छप्पय

ओंकार को जाप ताप तन सकल नसावै।
लोक वेद सब देव सबहिँ जग ओम बसावै॥
आसन सब रुज हरै देह वर विमल बनावै।
प्राणायाम प्रधान शुद्ध नाड़ी-अघ जावै॥
प्रत्याहार विकार-मन, हरै धैर्य करि धारना।
चेतनाहु सुख ध्यान तैं, मुक्ति समाधि विचारना॥

इति योग चूडामणि-उपनिषद्-सार समाप्त

(४६) निर्वाणोपनिषद्-सार

[३१४]

अथ निर्वाणोपनिषदं व्याख्यास्यामः ।
परमहंसः सोऽहम् । परिव्राजकाः पश्चिमलिङ्गाः ॥*

(नि० उ० प्रारम्भे)

छप्पय

उपनिषद हु निर्वाण मोक्ष को मार्ग बतावे ।
देव, मन्त्र, ऋषि आदि सबनि के अरथ जतावे ॥
जैसे करुणा–केलि और कौपीन उदासी ।
परमहंस यह मन्त्र कह्यो सोऽहं सुखरासी ॥
अजपा गायत्री परम, वसि मसान आनन्द वन ।
सदानन्द अद्वैत सुर, नियम स्वान्त इन्द्रिय दमन ॥

मुक्ति की पदवी संसार की पदवी से उलटी है। जो सभी प्राणियों के सोने का समय है उसमें संयमी जागता है। जिस काल में सभी संसारी लोग जागकर संसार सम्बन्धी कार्यों को करते हैं, योगी उनसे उदासीन होकर उनकी ओर से पीठ फेरकर निश्चिंतता के साथ सो जाता है। यह मोक्ष मार्ग संसार से विपरीत मार्ग है।

---

* अब निर्वाण उपनिषद् की व्याख्या करते हैं। परमहंस क्या है ? सोऽहंनिष्ठा-परिव्राजक क्या है, जो पश्चिम लिङ्ग हों।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! निर्वाण उपनिषद् छोटी-सी किन्तु बहुत ही उपादेय उपनिषद् है। इसमें बताया है परमहंस क्या? सोऽहं भाव निष्ठा ही इस उपनिषद् में पारमहंस्य धर्म है। परिव्राजक इसमें पश्चिम लिङ्ग है। मन्मथ क्षेत्रपाल हैं। गगन सिद्धान्त है, अमृत जिसमें कल्लोलित है ऐसी नदी है। निरञ्जन ब्रह्म ही इसकी अक्षय निधि हैं। निःसशय होना ही इसके ऋषि हैं, निर्वाण ही इस उपनिषद् के देवता हैं। निष्कुलता ही इस मार्ग की प्रवृत्ति है। इस मार्ग में निष्केवल होना ही ज्ञान है। ऊर्ध्व गमन ही इसका सम्प्रदाय है, गुरु परम्परा प्राप्त उपदेश है। निरालम्ब होना ही इस सम्प्रदाय की पीठ है। संयोग ही दीक्षा है, वियोग ही इसका उपदेश है। सन्तोष का पान करना ही इस निर्वाण पथ की दीक्षा है। द्वादश आदित्य ही इसका अवलोकन, निरीक्षण हैं। विवेक ही रक्षा है, करुणा करना ही इस मार्ग में केलि है। आनन्द ही इस सम्प्रदाय की माला है। एकान्त गुफा में मुक्तासन से बैठना ही इस मार्ग में सुख गोष्ठी है। किसी प्रकार की कल्पना न करना ही मानों भिक्षाशी भिक्षा पर ही निर्वाह करने वाला-होना है। 'हंस' मन्त्र का अजपा जप करना इस सम्प्रदाय का आचार है। हंस जो आत्मा है वह सर्व-भूतान्तर्वर्ती है यही सर्वत्र प्रतिपादन करना है। इस मार्ग मे धैर्य ही कन्था गुदडो-है। जगत से उदासीन रहना ही इस मार्ग की कौपीन है। विचार करते रहना ही इस मार्ग का दंड है।

सन्यासियों का सन्यास का योगपट्ट (नाम) होता है, इस पन्था में ब्रह्मावलोक ही योगपट्ट है। श्री ही पादुका है। इस अध्वा में आचरण क्या है, परेच्छा ही इसका आचरण है। कुण्डलिनी शक्ति ही बन्ध हैं। जीवन्मुक्तावस्था क्या है योगनिद्रा है। खेचरी ही इस मार्ग में मुद्रा है वह परमानन्द को देने वाली

है। तीनों गुणों से निर्गत है तथा विवेक द्वारा लभ्य है। मन और वाणी द्वारा गोचर है। अनित्य क्या है। जगत् के जो जो जनित पदार्थ हैं, वे जैसे बादलों में हाथी आदि की आकृतियें बन जाती हैं, और वे आकृति अनित्य हैं मिथ्या हैं, वैसे ही वे सब जागतिक पदार्थ अनित्य हैं। जैसे टेढ़ी मेढ़ी पड़ी रस्सी में सर्प की मिथ्या कल्पना कर ली जाती है वैसे ही मोह तथा गुण जाल कलित यह देहादि संघात भी मिथ्या कल्पित है। विष्णु ब्रह्मादि जो सैकड़ों नाम हैं वे ही मानों लक्ष्य हैं। अंकुश ही मार्ग है। शून्य क्या है? जिसमें संकेत न हो ऐसी परमेश्वर की सत्ता है। मठ क्या है? सत्यसिद्धयोग। अमरपद क्या है? तत्-ब्रह्म का स्वरूप। आदि ब्रह्म क्या? स्वसंवित् ब्रह्म। गायत्री क्या है? अजपा गायत्री हंस मन्त्र। विकार दण्ड क्या है, ध्येय वस्तु। कन्था क्या है, मनोनिरोधिनी वृत्ति। योग के द्वारा सदानन्द स्वरूप के दर्शन होते हैं। भिक्षा पर निर्वाह करने वाला क्या है, आनन्द। महा-श्मशान में भी रहे तो भी यह माने कि हम आनन्द वन में निवास कर रहे हैं। एकान्त ही स्थान है। आनन्द ही रहने का मठ है। उन्मनी मुद्रा ही अवस्था है। चेष्टा ही शारदा-वीणा है। उन्मनी अवस्था ही गति है। निर्मल होना यही गात्र है। निरालम्ब ही पीठ है। अमृत सागर में कल्लोल करना ही आनन्द क्रिया है। गगन ही पाण्डर-शुभ्रता है। महत्ता ही सिद्धान्त है। शम दमादि दिव्य शक्ति के आचरण में ही क्षेत्र तथा पात्र पटुता है। परावर ही संयोग है, तारक दिव्य मन्त्र ही उपदेश है। सदानन्द अद्वैत ही देवता है। अपनी इन्द्रियों का निग्रह करना ही नियम है। भय, मोह, शोक तथा क्रोध छोड़ देने का ही नाम त्याग है। परावर के ऐक्य का अनुभव हो रसास्वादन है। अनियामकत्व ही निर्मल शक्ति है। स्वप्रकाश ब्रह्मतत्त्व में ही शिव शक्ति

सपुटित प्रपञ्च का छेदन ही छेदन है । पत्राक्ष की जो श्चि है वही कमण्डलु है। भाव क्या है अभाव का दहन। घूमना क्या है ? आकाश के आधार में तुरीय जो शिव पद है वही मानो यज्ञोपवीत है। तन्मयता होना ही शिखा है। चिन्मय ही उत्सृष्टि दण्ड है। सन्ततास्ति ही कमडलु है, कर्मों का निर्मूलन कर देना ही मानों कन्था है। माया, ममता और अहकार का दहन ही दहन है। श्मशान म अनाहताङ्गी होकर निस्त्रैगुण्य स्वरूप का अनुसन्धान करते रहना ही मानों समय है। भ्रान्ति का हरण करना ही हरण है। कामादि वृत्तियों का दहन करना ही दहन है। काठिन्यता और दृढता के साथ नियमो का धारण करना ही कौपीन है। मृगचर्म को वस्त्र के स्थान पर ओढना ही मानो चीर है। अनाहत ध्वनि ही मन्त्र है। अक्रिय रहना ही मानो उच्छिष्ट होना है। स्वेच्छाचार ही स्व स्वभाव है, मोक्ष परब्रह्म है। प्लव नौका वत आचरण ही आचरण है। ब्रह्मचर्य ही शान्ति समह है। ब्रह्मचर्य आश्रम में पढकर तथा वानप्रस्थ आश्रम में अध्ययन करके, सर्वसवित सहित जो त्याग है उसी का नाम सन्यास है। अन्त में अखण्ड ब्रह्माकार वृत्ति होना ही अखण्डाकार है। सम्पूर्ण सन्देहो का नाश हो जाना ही नित्यत्व की प्राप्ति है। इसी का नाम निर्माण दर्शन है। इस निर्माण दर्शन को या तो अपने सत पुत्र को दे अथवा सत् शिष्य को देय। जो अपना पुत्र अथवा आज्ञाकारी शिष्य न हो उसे कभी भूलकर भी इस निर्वाण उपनिषद् को नहीं देना चाहिये। इस प्रकार यह उपनिषद् समाप्त हुई। 'वाङ्मे मनसि' आदि इसका शान्ति पाठ है, यह मोक्ष सम्बन्धिनी ज्ञाननिष्ठा वाली उपनिषद् है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! यह मैंने आपको निर्वाणो-

पनिषद् का सार सिद्धान्त सुनाया अब आगे आप मण्डल ब्राह्मण उपनिषद् का सार सुनिये ।"

छप्पय

धीरज कन्था कही योगनिद्रा शिव भक्ती ।
भिक्षाशी आनन्द, न नियमक निर्मल शक्ती ॥
शिव तुरीय उपवीत तन्मया शिखा कहावै ।
कन्था करमनि नाश दहन ममता बतलावै ॥
दृढ़ता ही कौपीन है, अजिनवास है चीर वर ।
मन्त्र अनाहत शान्ति को, संग्रह है व्रत वृहततर ॥

इति निर्वाणोपनिषद्-सार समाप्त

५०-मण्डल ब्राह्मणोपनिषद्-सार

[३१५]

यन्मनस्त्रिजगत् सृष्टि स्थिति व्यसन कर्मकृत् ।
तन्मनो विलयं याति तद् विष्णोः परमं पदम् ॥*

(म० बा० उ० ५ ब्रा०)

छप्पय

मण्डल ब्राह्मण कही उपनिषद याज्ञवल्क्य रवि ।
ज्ञानयोग के अङ्ग आठ नवचक्र कहे कवि ॥
पाँच देह के दोष नाश तिनि युक्ति बतायीं ।
कुण्डलिनी करि दरश दोष दुख दुरित नसायीं ॥
तीन लक्ष्य कम तैं कहे, आदि मध्य अन्तर सुखद ।
हरि हर दरशन तत्त्व पर, लक्ष्य अन्त सो मोक्षप्रद ॥

मन ही जगत् को बनाता है, मन ही बने बनाये को बिगाड़ देता है। चैतन्यात्मा तो शुद्ध है, विकार रहित है। वह तो प्रपञ्च से परे है। मन प्रपञ्च के अन्तर्गत है। चैतन्यांश जीव का किसी

---

* जिस मन के द्वारा तीनों लोकों की सृष्टि, स्थिति आदि होते हैं, उसी के द्वारा समस्त व्यसन और कर्म किये जाते हैं। अर्थात् जो भी कुछ हो रहा है मन के ही द्वारा हो रहा है। वही मन यदि विलय को प्राप्त हो जाय तो वही विष्णु का परमपद मुक्ति है। क्योंकि मन ही बन्धन का कारण है, मन ही मुक्ति में भी हेतु है।

भी कारण से मन के साथ संयोग हो गया, तो उस चैतन्यांश के संसर्ग से जड़ मन में भी कर्तृत्व शक्ति आ जाती है। वह भाँति-भाँति के मन मोदकों को बनाते-बनाते इतनी बड़ी सृष्टि को संमुख कर देता है। कठपुतली में नाचने की शक्ति नहीं, किन्तु सूत्रधार के सूत्र का उस कठपुतली से सम्बन्ध हो जाने से जड़ होने पर भी वह कठपुतली नाना प्रकार के हाव-भाव कटाक्ष दिखाती हुई नृत्य करने लगती है। दर्शक यवनिका में छिपे सूत्रधार को देख नहीं सकते, यही समझते हैं, कठपुतली ही नृत्य कर रही है। किसी प्रकार सूत्र कट जाय तो कठपुतली निष्क्रिय हो जायगी। इसी प्रकार मन ने विकार-कर्मवासनायें-भर गयी हैं, उसी के कारण यह जगत् व्यापार चल रहा है, मन की वासनायें मिट जायँ, तो जगत् विलीन हो जायगा। भाव यह हुआ कि कर्मवासना से भरा मन जगत् की सृष्टि स्थिति करता है, वही वासनाहीन होने से विष्णु के परमपद तक पहुँचा देता है। अतः जैसे भी बने तैसे, जिस उपाय से भी हो सके मन को श्रीकृष्णचरणारविन्दों में विलीन कर दे। तो फिर इस संसार का अस्तित्व ही समाप्त हो जायगा। तब तो केवल भगवान् ही भगवान् रह जायँगे।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! अब मैं आपको मण्डल ब्राह्मण उपनिषद् का सार सिद्धान्त सुनाता हूँ। पूर्ण मद इत्यादि इसका शान्ति पाठ है। यह छोटी-सी ज्ञानयुक्त योग की उपनिषद् है। इसमें पाँच ब्राह्मण हैं। प्रथम ब्राह्मण में याज्ञवल्क्य महामुनि आदित्य लोक में गये। वहाँ उन्होंने आदित्य देव को नमस्कार करके कहा—"भगवन्! हमें आत्मतत्त्व बता दीजिये।" इस पर भगवान् सूर्य नारायण ने कहा—"मैं तुम्हें ज्ञानयुक्त अष्टाङ्ग योग बताऊँगा। अष्टाङ्ग योग में पहिला अङ्ग यम है। यम कितने

हैं ? बताते हैं। शीत-उष्ण, आहार निद्रा इन पर विजय प्राप्त करना, सर्वदा शान्ति भाव से रहना, मति को निश्चल बनाये रहना तथा विषय और इन्द्रियों का निग्रह करना ये आठ प्रकार के यम हैं। दूसरा अङ्ग है नियम। नियम कितने हैं ? बताते हैं (१) गुरु में भक्तिभाव रखना, (२) सत्यमार्ग में अनुरक्ति होना, (३) सुखागत वस्तु का अनुभव, (४) उस सुखागत वस्तु के अनुभव से तुष्टि रखना, (५) निःसङ्गता, (६) एकान्त में निवास करना, (७) *मन की निवृत्ति, (८) फलों की अभिलाषा न करना तथा* (९) वैराग्य का भाव य नौ नियम हैं। तीसरा अङ्ग आसन है। आसन क्या ? बताते हैं। जिस आसन से सुख हो उस आसन से बैठने की वृत्ति तथा चार वस्त्रों से निर्वाह करना यही आसन नियम है। चौथा अङ्ग है प्राणायाम। प्राणायाम क्या ? पूरक, कुम्भक और रेचक इन तीनों को क्रम से सोलह, चौंसठ और बत्तीस मात्रा में करना यही प्राणायाम है। पाँचवाँ अङ्ग है, प्रत्याहार। प्रत्याहार क्या ? विषयों का, इन्द्रियों का तथा मन का निरोध करना यही प्रत्याहार है। छटा अङ्ग है धारणा। धारणा क्या ? समस्त शरीरों में एक ही चैतन्यात्मा विद्यमान है, इसी भावना को दृढ करना इसी का नाम धारणा है। सातवाँ अङ्ग है ध्यान। ध्यान क्या ? विषय व्यावर्तन पूर्वक चैतन्य आत्मा में चित्त को स्थापन करना इसी का नाम ध्यान है। अब अन्तिम आठवाँ अङ्ग समाधि है। समाधि किसे कहते हैं ? ध्यान की भी विस्मृति हो जाना इसी का नाम समाधि है। ये ही योग के सूक्ष्म आठ अङ्ग हैं। जो साधक इन आठों अङ्गों को जानता है, वह मुक्ति का अधिकारी हो जाता है।"

देह के (१) काम, (२) क्रोध, (३) निःश्वास, (४) भय और (५) निद्रा ये पाँच दोष बताये हैं, इन्हें हटाने के क्रमशः (१) [

संकल्पता, (२) क्षमा, (३) लघु आहार, (४) अप्रमादता, और (५) तत्त्व सेवन ये उपाय हैं। निद्रा, भय, रूप सर्पादि हैं, जिसमें तृष्णा ही आवर्त-हिलोरें हैं, स्त्री ही कीचड़ रूपा है, ऐसे संसार रूप जलनिधि को तरने के लिये सूक्ष्म मार्ग का अवलम्ब करके, सत्व, रज और तम जो तीन गुण हैं उनका अतिक्रमण करके तारक ब्रह्म को ही देखना चाहिये। दोनों भौहों के मध्य में सच्चिदानन्द तेज कूट रूप तारक ब्रह्म हैं। उन्हें देखने का उपाय तीनों लक्ष्यों का देखना ही है। तीनों लक्ष्य क्या हैं ? इसे बताते हैं।

पहिला लक्ष्य तो यह है कि मूलाधार चक्र से लेकर ब्रह्मरन्ध्र में जो सहस्रार चक्र है वहाँ पर्यन्त सूर्य की आभा के सदृश सुषुम्ना नाड़ी है। उसमें कमलनाल के तन्तु से भी अत्यन्त सूक्ष्म कुण्डलिनी शक्ति है, उसके साक्षात्कार से तम की निवृत्ति होती है। उसके दर्शन से समस्त पापों की निवृत्ति हो जाती है। पहिले तर्जनी उँगलियों के अग्रभाग से दोनों कानों के छिद्रों को कसकर बन्द कर ले। इससे एक फूत्कार शब्द उत्पन्न होगा। मन को उस फूत्कार शब्द में लगा ले। जब मन उस फूत्कार शब्द में लग जायगा, तब आँखों के मध्य में एक गहरी नीली-नीली ज्योति उत्पन्न होगी। इसी प्रकार हृदय के भीतर भी। यह तो भीतर की ज्योति की बात हुई। बहिर्लक्ष्य में नासिका के अग्र भाग से चार, छैः, आठ, दश अथवा बारह अंगुल बाहर क्रम से नीलद्युति, श्यामत्व सदृश, रक्तभङ्गी, स्फुरत पीत वर्ण और द्वयो पेत–दो रंगों से मिला–इस प्रकार आकाश को देखता है। वह योगी चलते हुए की भाँति आकाश में इनको देखता है। जिस व्योम भाग की ओर दृष्टि जाती है, तो पुरुष की दृष्टि के आगे ज्योति की मयूखा–किरण दिखायी देती है। अर्थात् उसकी आँखों में जो रंग विरंगी ज्योति की एक प्रभा दिखायी देती है,

वहाँ जिधर दृष्टि ले जाता है, उधर ही वह प्रभा चलती हुई-सी दिखायी देती है, जैसे परदे पर छाया चित्र घूमते–ऊपर नीचे आते जाते दिखायी देते हैं। जब दृष्टि स्थिर होती है तब सिर के ऊपर बारह अगुल प्रमाण पर एक ज्योति दिखायी देती है। वह शिर पर बारह अगुल दूर जब ज्योति दिखायी देने लगती है, तब योगी अमृतत्व को प्राप्त हो जाता है, अर्थात् वह मृत्यु को जीत लेता है, फिर उसका मरण का दुःख सर्वथा नष्ट हो जाता है। यह तो तीन लक्ष्यों में से प्रथम वहिर्लक्ष्य की बात हुई।

अब मध्यलक्ष्य की बात सुनिये। मध्य लक्ष्य में प्रातःकाल के समय आकाश में चित्र विचित्र वर्ण, सूर्य, चन्द्रमा, अग्नि ज्वालावली की भाँति दिखायी देते हैं अथवा इनसे विहीन अन्त-रिक्ष वत दीखता है। उस समय आकाश में भाँति-भाँति के आकार दिखायी देते हैं। अभ्यास करने से फिर निर्विकार गुण रहित आकाश हो जाता है। तदनन्तर जैसे तारा टूटता है उसके सदृश प्रगाढ़तम उपमा वाला पराकाश हो जाता है। [illegible] के प्रकाश के सदृश सूर्याकाश हो जाता है। [illegible] सदृश द्योतमान महाकाश हो जाता है। फिर [illegible] के अद्वितीय प्रद्योतमान तत्त्वाकाश हो जाता है। फिर [illegible] प्रकाश के सदृश सूर्याकाश हो जाता है। [illegible] करते-करते साधक का मन उसमें तन्मय हो जाता [illegible] जानता है, वास्तव में वही योग का जानकार है।

योग दो प्रकार का होता है। पूर्वयोग और [illegible] योग तारक कहलाता है, उत्तर योग [illegible] जो पूर्वयोग तारक है उसके भी दो भेद होते हैं। प[illegible] तारक और दूसरा अमूर्तितारक। जो इन्द्रियों द्वारा गोचर है वह तो मूर्तितारक है

जो दोनों भौंहों के मध्य से भी अतीत है वह अमूर्ति तारक है। दोनों को ही मन से युक्त होकर अभ्यास करना चाहिये। मन से युक्त होकर अभ्यास करने से अन्तर दृष्टि तारक को प्रकाशित करने के लिये होती है। इस प्रकार अभ्यास करने से दोनों भौंहों के मध्य बिल में तेज का आविर्भाव होता है। इसी का नाम पहिला पूर्व तारक योग है। अब दूसरा जो उत्तर मनरक योग है उसके सम्बन्ध में सुनिये।

उत्तर योग अमनस्क योग कहलाता है। तालु का जो मूल भाग है, उसके ऊर्ध्व भाग में महाज्योति विद्यमान है। उस महा-ज्योति के दर्शन से ही अणिमादि सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं। इस लक्ष्य से वाह्य और अन्तर्दृष्टि हो जाती है। दृष्टि को बाहर स्थिर करके न तो पलक गिरें न खुलें इस पर यह शाम्भवी मुद्रा होती है। यह महाविद्या सर्वतन्त्रों में गोपनीय बतायी है। इस शाम्भवी मुद्रा के ज्ञान से संसार से निवृत्ति हो जाती है। इस मुद्रा का पूजन मोक्ष के फल को देने वाला होता है। यह अन्तर्लक्ष्य जल ज्योति स्वरूप होती है। यह महर्षियों द्वारा ही जानी जा सकती है। यह अन्तर तथा वाह्य इन्द्रियों द्वारा अदृश्य है। सहस्रार चक्र में जल ज्योति अन्तर्लक्ष्य है। कुछ आचार्यों का कहना है बुद्धि की गुफा में सर्वाङ्ग सुन्दर जो पुरुष रूप है। वास्तव में वही अन्तर्लक्ष्य है। शिर के अन्तर्गत मण्डल के मध्य में पाँच मुख वाले नीलकण्ठ शिवजी उप प्रशान्त भाव से अवस्थित हैं, कुछ लोग इसे अन्तर्लक्ष्य कहते हैं। कुछ लोगों का मत है हृदय कमल में जो अंगुष्ठ मात्र पुरुष है वही अन्तर्लक्ष्य है। ये सभी विकल्प आत्मा में ही हैं। उस लक्ष्य को शुद्धात्म दृष्टि से जो देखता है, वही ब्रह्मनिष्ठ होता है। पच्चीस तत्त्वों वाला जीव है। स्वकल्पित जो चौबीस तत्त्व हैं उन्हें छोड़कर छब्बीसवाँ जो

परमात्म तत्त्व है उसे जो कोई जान लेता है, वह जीवन्मुक्त हो जाता है। इस प्रकार अन्तर्लक्ष्य के दर्शन से जीवन्मुक्ति दशा में स्वयं ही वह अन्तर्लक्ष्य होकर परम आकाश अखण्ड मण्डल हो जाता है। इस प्रकार आदि लक्ष्य, मध्य लक्ष्य और अन्तर्लक्ष्य इन तीनों लक्ष्यों का वर्णन किया। यहाँ आकार मण्डल ब्राह्मण उपनिषद् का प्रथम ब्राह्मण समाप्त होता है।

दूसरे *ब्राह्मण में महर्षि याज्ञवल्क्य पुनः आदित्य मण्डलस्थ* पुरुष से पूछते हैं—"भगवन्! आपने अन्तर्लक्ष्यादिक कई प्रकार से बताया उसे मैं भली-भाँति समझ नहीं सका। उसे मुझे कृपा करके फिर से समझाइये।"

यह सुनकर भगवान् आदित्य ने कहा—"पञ्चभूत ही जिसके कारण हैं, कूटस्थ विद्युत् के समान जिसकी आभा है, इस प्रकार एक चतुः पीठ है। उस पीठ के मध्य में तत्त्व प्रकाश होता है। प्रकाश अत्यन्त गूढ और अव्यक्त है। उसे तो ज्ञान रूपी नौका पर आरूढ़ होकर ही जाना जा सकता है। वही बाह्य तथा आभ्यन्तर लक्ष्य है। उस तत्त्व प्रकाश में ही समस्त जगत् लीन हो जाता है। वही नाद, बिन्दु तथा कला से अतीत अखण्ड मण्डल है। वह सगुण तथा निर्गुण स्वरूप है। उसे जो जान लेता है वह विमुक्त हो जाता है। पाँच मण्डल बताये। उनमें पहिला अग्नि मण्डल है। उससे ऊपर सूर्यमण्डल है उस सूर्यमण्डल के मध्य में सुधा चन्द्रमण्डल है। उस सुधा चन्द्रमण्डल के भी मध्य में अखण्ड ब्रह्म तेज मण्डल है। उसमें विद्युत् लेखा की भाँति शुक्ल भास्वर है। उसी को शाम्भवी लक्षण कहते हैं। उसके दर्शन में तीन मूर्तियाँ बतायी गयी हैं। पहिली अमावस्या मूर्ति, दूसरी प्रतिपत् मूर्ति और तीसरी पूर्णिमामूर्ति। निर्मीलित दृष्टि होना इसी का नाम अमामूर्ति है। अर्धोन्मीलित दर्शन को

प्रतिपत् मूर्ति कहते हैं और सर्वोन्मीलन ही पूर्णिमा मूर्ति होती है। इनमें से पूर्णिमा मूर्ति का ही अभ्यास करना चाहिये। उस पूर्णिमा मूर्ति का लक्ष्य नासिका का अग्र भाग है। जिस समय तालु के मूल में प्रगाढ़ तम दिखायी देता है। वहाँ प्रगाढ़तम अभ्यास करते-करते अभ्यास से अखण्ड मण्डलाकार ज्योति के रूप में दिखायी देने लगता है। वही अखण्डमण्डलाकार ज्योति सच्चिदानन्द ब्रह्म स्वरूप है। इस प्रकार जब मन सहजानन्द में लीन हो जाता है, तब जीव प्रशान्त हो जाता है। उसी को खेचरी मुद्रा कहते हैं। उस खेचरी मुद्रा के अभ्यास से मन स्थिर हो जाता है। मन के स्थिर होने पर वायु-प्राण-भी स्थिर हो जाता है। उसके चिन्ह ये हैं। पहिले आँख खोलने पर और मींच लेने पर भी तारा के सदृश प्रकाश दीखता है फिर वज्र दर्पण के सदृश, तदनन्तर ऊपर में पूर्णचन्द्रमण्डल के सदृश दीखने लगता है फिर नवरत्न प्रभामण्डल दीखता है। तदनन्तर मध्यान्ह का सूर्यमंडल फिर अग्नि शिखा मंडल, इस प्रकार क्रम-क्रम से दिखायी देने लगते हैं। तब पश्चिमाभिमुख प्रकाश दीखता है। उसमें स्फटिक, धूम्र, बिन्दु, नाद, कला, नक्षत्र, खद्योत, दीपक, नेत्र, सवर्ण तथा नवरत्नादि प्रभा दिखायी देने लगती हैं। प्रभा दर्शन प्रणव स्वरूप है।

देखो, प्राण और अपान का ऐक्य करके कुम्भक प्राणायाम को धारण करे। फिर नासिका के अग्रभाग को देखते हुए दृढ़ भावना से दोनों हाथों की उँगलियों से आँख, कान और नासिका के दो-दो द्वारों (छैओ द्वारों) को रोककर प्रणव ध्वनि—जो अनाहत ध्वनि है उसे सुने। उस ध्वनि में मन को लीन कर दे। जब उस प्रणव ध्वनि में मन भली भाँति लीन हो जायगा, तब उस साधक को कर्म लिपायमान नहीं कर सकते। सूर्य के उदय तथा अस्त

होने के समय इस कर्म को करना चाहिये। इस प्रकार चैतन्य जो आदित्य है, उनके उदय अस्त के अभाव से अर्थात् चैतन्य आदित्य का न उदय है न अस्त, उसी प्रकार योगी के लिये भी सभी कर्मों का अभाव हो जाता है। शब्द में काल का लय हो जाने पर दिन और रात्रि से अतीतावस्था हो जाती है। दिन रात्रि तो काल के ही अवयव हैं। जब शब्द में काल ही लय हो गया तो दिन रात्रि का भेद भाव कहाँ रहा ? वहाँ तो सर्व परिपूर्ण ज्ञान द्वारा उन्मनी अवस्था हो जाती है। उस उन्मनी अवस्था में जीव ब्रह्म का ऐक्य हो जाता है। उन्मनी अवस्था से अमनस्क हो जाता है। उस अमनस्क अवस्था की निश्चिन्तता का ही नाम ध्यान है। अब पूजा विधि बताते हैं। पूजा में सर्वप्रथम आवाहन किया जाता है। इस ज्ञान योग में सर्व कर्मों का निराकरण ही मानों आवाहन है। आवाहन के पश्चात् आसन दिया जाता है, तो निश्चय ज्ञान ही आसन है। उन्मनी भाव पाद्य है। सदा अमनस्क रहना ही अर्घ्य है। सदा दीप्ति अपार अमृत वृत्ति ही मानो स्नान हैं। सर्वत्र ब्रह्म भावना ही गन्ध है। दृक् स्वरूप अवस्थान ही मानो अक्षत हैं। चित् स्वरूप की प्राप्ति मानों पुष्प हैं। चित् स्वरूप की प्राप्ति मानों पुष्प हैं। चित् अग्नि स्वरूपता ही मानों धूप है। चिदादित्य स्वरूप ही मानों दीपदान है। परिपूर्ण जो चन्द्रमा का अमृत रस है उसका ऐकीकरण ही मानों नैवेद्य है। निश्चल भाव ही मानों प्रदक्षिणा है। सोऽहं भाव ही नमस्कार है। मौन भाव ही मानों स्तुति है। सर्व सन्तोष ही मानों विसर्जन है। यही षोडशोपचार ज्ञान योग पूजा है। उसे जो जानता है, वही वास्तव मे जानने वाला है।

इस प्रकार त्रिपुटी के निरस्त होने पर तरङ्ग रहित समुद्र की

तरह, निर्वात स्थान में रखे दीपक की भाँति अचल तथा सम्पूर्ण भाव अभाव विहीन कैवल्य ज्योति हो जाती है। जाग्रत और निन्दान्त के परिज्ञान से साधक ब्रह्मवित् हो जाता है। सुषुप्ति सम मनोलय होने पर भी महान उभय भेद हैं, जैसे तमोगुण में लीन होने पर मुक्ति के हेतु का अभाव होता है। अर्थात् सुषुप्ति अवस्था में यद्यपि मन लीन होता है किन्तु वह अज्ञान के साथ लीन होता है, इसलिये वह मुक्ति सुख से वंचित रहता है। समाधि अवस्था में तमो विकार नष्ट हो जाते हैं। उस समय तदाकार होने से अखण्डाकार वृत्यात्मक साक्षि चैतन्य में प्रपंच का लय हो जाता है। प्रपञ्च जो है वह मन द्वारा कल्पित ही है। प्रपञ्च में मन के लय हो जाने से, भेद का अभाव हो जाने से कदाचित् मन वहिर्गत होने पर भी संसार का मिथ्यात्व तो बना ही रहता है, क्योंकि एक बार भी सदानन्द का अनुभव गोचर हो गया वह भी ब्रह्मवित् हो जाता है। अर्थात् क्षण भर को भी मन ब्रह्माकार वृत्ति वाला हो जाता है तो यह संसार सदा के लिये मिथ्या दिखायी देने लगता है। जिस साधक का संकल्प नाश हो गया है, उसके तो मुक्ति हाथ में ही रखी है। इसीलिये भाव अभाव को त्यागकर परमात्मा के ध्यान से ही मुक्ति पद प्राप्त हो जाता है। फिर बारम्बार सभी अवस्थाओं में ज्ञान-ज्ञेय, ध्यान-ध्येय, लक्ष्य-अलक्ष्य, दृष्य-अदृष्य-आदि ऊहापोहों को त्यागकर वह जीवन मुक्त ही हो जाता है। जो इस रहस्य को जान लेता है, वास्तव में वही यथार्थ जानकार है।

पाँच अवस्थायें होती हैं। १-जाग्रत, २-स्वप्न, २-सुषुप्ति ४-तुरीय और ५-तुरीयातीतावस्था।

जाग्रत अवस्था में प्रवृत्त जीव प्रवृत्ति मार्ग में आसक्त रहता है। उस अवस्था में पाप कर्मों के फल से नरक मिलना चाहिये

और पुण्य कर्मों के फल से स्वर्ग की प्राप्ति होनी चाहिये, इस प्रकार की आकांक्षा होती है। वही जीव जब वैराग्य को स्वीकार कर लेता है अर्थात् उसे संसार से वैराग्य हो जाता है, तब कर्म, कर्मों का फल, तथा जन्म मरण ये सब समाप्त हो जाते हैं। *यह संसार बन्धन है, ऐसी अलंबुद्धि हो जाती है। संसार से वैराग्य* हो जाने पर जीव मुक्ति के अभिमुख हो जाता है, अर्थात् जीवन में जहाँ वैराग्य आया वहाँ वह संसारी मोह का परित्याग करके मुक्ति मार्ग की ओर चल पड़ता है। उसकी प्रवृत्ति मार्ग से निवृत्ति और निवृत्ति मार्ग से प्रवृत्ति हो जाती है। ऐसा वैराग्यवान् साधक जिसकी प्रवृत्ति मुक्ति मार्ग की ओर हो गयी है, वह संसार रूपी सागर से तरने के निमित्त गुरु का आश्रय लेता है, कामादि वासनाओं को त्यागकर, वेद विहित जो कर्म हैं, उनका आचरण करता हुआ, साधन चतुष्टय सम्पन्न होकर, हृदय कमल के मध्य में जो भगवत् सत्ता मात्र है, उसी को अन्तर्लक्ष्य करके उसी के रूप को प्राप्त होता है। तब उसकी सुषुप्ति अवस्था में जो ब्रह्मानन्द स्मृति मुक्त हो चुकी थी, उस स्मृति को पुनः प्राप्त करके ऐसा अनुभव करने लगता है, कि मैं एक ही हूँ, मैं अद्वितीय हूँ। कुछ काल तक अज्ञान वृत्ति को विस्मृत करके जाग्रत अवस्था की जो वासनायें हैं उनके अनुकूल मैं तैजस हूँ ऐसा अनुभव करता है। जब इन दोनों से निवृत्त हो जाता है, तो ऐसा अनुभव करता है कि मैं तैजस नहीं प्राज्ञ हूँ। मैं इस समय एक ही हूँ। स्थान भेद से अवस्था भेद होता ही है। परन्तु इतना विवेक तो बना ही रहता है, कि मुझसे अन्य और कोई है ही नहीं। मैं शुद्ध हूँ, अद्वैत हूँ तथा मैं ही ब्रह्म हूँ। इस प्रकार भिदागन्ध को निरसन करके अपने अन्तःकरण में जो विजृम्भित भानुमण्डल है, उसके ध्यान से तदाकारित वृत्ति

वाला परब्रह्मकारित वृत्ति वाला जो मुक्ति का मार्ग है उसमें वह आरूढ़ होकर परिपक्व हो जाता है।

मन के बन्धन के हेतु संकल्प आदि ही हैं। संकल्प विकल्प से विमुक्त हुआ मन मोक्ष मार्ग की ओर प्रवृत्त होता है। मुक्ति मार्ग की ओर जाने वाला मन चक्षु आदि इन्द्रियों के जो विषय हैं उन वाह्य प्रपञ्चों से उपरत होकर–प्रपञ्च गन्ध से रहित होकर–अपने को सर्वजगत् मय अनुभव करने लगता है। उसका अहङ्कार छूट जाता है, तब वह ऐसा चिन्तन करने लगता है, कि मैं ब्रह्म हूँ। यह जो भी कुछ है सब आत्मा ही आत्मा है। आत्मा के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। ऐसी भावना होने पर साधक कृतकृत्य हो जाता है। वही सर्वपरिपूर्ण, तुरीयावस्था से भी अतीत, ब्रह्म भूत योगी हो जाता है। उसी की लोग ब्रह्म भावना से स्तुति करते हैं। वह समस्त लोकों का स्तुति पात्र है, वह सभी देशों में संचार शील है। ऐसा योगी परमात्म गगन में बिन्दु को निक्षिप्त करके शुद्ध, अद्वैत, अजाड्य, सहज, अमनस्क जो योगनिद्रा है, जिसमें अखण्ड आनन्द पद की अनुवृत्ति होती है उसे प्राप्त करके जीवन्मुक्त हो जाता है। अर्थात् इस शरीर में जीवित रहने पर ही मुक्ति का जो अखण्ड आनन्द है उसका अनुभव करने लगता है। ऐसे योगी आनन्द के समुद्र में निमग्न हो जाते हैं। उन योगियों की अपेक्षा इन्द्रादि जो लोकपाल हैं उनका आनन्द भी स्वल्प ही है। ऐसे आनन्द को प्राप्त करने वाला ही परम योगी है।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! यहाँ आकर मण्डल ब्राह्मण उपनिषद् का द्वितीय ब्राह्मण समाप्त हुआ।"

अब तृतीय ब्राह्मण में महामुनि याज्ञवल्क्यजी ने आदित्य मण्डल के जो आदित्य पुरुष हैं उनसे पूछा—"स्वामिन्! आपने

पीछे यद्यपि अमनस्क योग के लक्षण बताये थे, किन्तु मैं उसे भूल गया, कृपा करके फिर से उसके लक्षण को मुझे बताइये।"

भगवान् आदित्य ने कहा—"अच्छा, भूल गये ? कोई बात नहीं, मैं फिर से तुम्हें बताता हूँ। देखो, भैया! यह अमनस्क अति ही रहस्यमय है। इसके ज्ञान से जीव कृतार्थ हो जाता है, यह नित्य ही शाम्भवी मुद्रा–खेचरी मुद्रा–से युक्त है। परमात्म दृष्टि से उनके जो प्रत्यय लक्ष्य हैं, उन लक्ष्यों को देखकर उसके पश्चात् जो सर्वेश, अप्रमेय, अज, शिव, परमाकाश, निरालम्ब, अद्वितीय, ब्रह्मा विष्णु और रुद्रादि देवों का जो एकमात्र लक्ष्य है, सर्व कारणों का भा जो कारण है, उस परब्रह्म परमात्मा को ही देखता हुआ कपाल कुहर में जिह्वा के उलट कर प्रवेश करने से इस गुहा में ही विहरण करते रहेंगे ऐसे निश्चय को जानकर भाव-अभाव आदि द्वन्द्वों से अतीत होकर, मन उन्मनी अनुभव से संवित होकर तदनतर अखिल इन्द्रियों के क्षय होने के कारण अमनस्क सुख प्राप्त होता है। वह अमनस्क सुख क्या है ? मानों ब्रह्मानन्द समुद्र में मनः प्रवाह योग रूप से इस प्रकार शान्त स्थित होता है, जिस प्रकार निर्वात स्थान में रखा हुआ दीपक शान्त भाव से जलता रहता है। उसी प्रकार साधक इस अमनस्क योग द्वारा परब्रह्म को प्राप्त कर लेता है। उस समय मन सूखे वृक्ष की भाँति, मूर्छा से मूर्छित पुरुष के समान, प्रगाढ़ निद्रा में निमग्न पुरुष के समान, श्वास उच्छ्वास से रहित होकर शान्त हो जाता है। समस्त द्वन्द्व नष्ट हो जाते हैं, गात्र सदा चञ्चलता रहित होकर शान्त भाव को प्राप्त हो जाता है। उस समय मन परम शान्तिको स्वीकार करके परमात्मा में लीन हो जाता है। जैसे दूध से भरे गौ के स्तनों से दूध दुह लेने के अनन्तर धेनु के

स्तन क्षीर की भाँति समस्त इन्द्रियों के परिनष्ट हो जाने पर जो मन का नाश हो जाता है, उसी का नाम अमनस्क योग है। अर्थात् गौ के थनों से दूध निकल जाने पर वे स्तन दूध रहित हो जाते हैं, उसी प्रकार जब इन्द्रियाँ विषयों से पृथक् होकर आत्मा में लग जाती हैं तो मन भी संकल्प विकल्प से शून्य हो जाता है। इसे ही अमनस्क योग कहते हैं।

तदनन्तर–नित्यशुद्ध जो परमात्म तत्त्व है उसमें वह मैं ही हूँ, ऐसी भावना हो जाती है। "तत्त्वमसि" इसके उपदेश से 'तुम ही मैं हूँ मैं ही तुम हो' इसी भावना को तारक योग कहते हैं, उस तारक योग मार्ग द्वारा अखण्ड आनन्द से परिपूर्ण हो जाता है, तब वह साधक कृतार्थ हो जाता है। परिपूर्ण पराकाशमग्न मन वाले, जिन्हें उन्मनी अवस्था प्राप्त हो चुकी है, जिन्होंने समस्त इन्द्रिय वर्ग का संन्यास कर रखा है, जिनके अनेक जन्मों के अर्जित पुण्य पुञ्ज रूप फल पक कर कैवल्य स्वरूप बन चुके हैं, ऐसे पुण्यपुञ्ज साधक के अखण्ड आनन्द सागर में निमग्न होने से समस्त क्लेश कल्मष नष्ट हो चुके हैं वे ऐसा अनुभव करने लगते हैं कि 'अहं ब्रह्म' मैं ही ब्रह्म हूँ। ऐसा अनुभव करके वे कृतकृत्य हो जाते हैं। तुम ही मैं हूँ 'त्वमेवाहं' इस भावना के कारण उसमें कोई भेद भाव नहीं रहता। क्योंकि वह परमात्मा में परिपूर्ण हो चुका है। 'त्वमेवाहं' ऐसा उच्चारण करते हुए शिष्य का गाढ़ालिङ्गन करके उसे यह विज्ञप्ति सम्यक प्रकार से समझा दे, इसका साक्षात्कार करा दे यही अमनस्क योग है।" यहाँ आकर मण्डल ब्राह्मण उपनिषद् का तीसरा ब्राह्मण समाप्त होता है।

अब चौथे ब्राह्मण में महामुनि याज्ञवल्क्य ने फिर उन महा-मण्डल पुरुष भगवान् आदित्य नारायण से पूछा—"भगवन्!

व्योमपञ्चक जो आपने पीछे बताया, उसे कृपा कर विस्तार के साथ कहें।"

इस पर भगवान् आदित्य ने कहा—"देखो, भैया! पीछे जो मैंने व्योमपचक बताये वे पाँच ये हैं। पहला–आकाश, दूसरा–पराकाश,तीसरा–महाकाश, चौथा–सूर्याकाश और पाँचवा परमाकाश। अब इनकी व्याख्या सुनिये। १–आकाश उसे कहते हैं जो बाहर भीतर अन्धकार मय हो। २–पराकाश उसका नाम है जो बाहर से अभ्यन्तर में कालानल के सदृश हो। ३–महाकाश उसका नाम है जो बाहर तथा भीतर में भी अपरिमित द्युति वाला तत्त्व हो। चौथा सूर्याकाश उसका नाम है जो भीतर में तथा बाहर में भी सूर्य सदृश आभा वाला हो। ५–परमाकाश उसका नाम है जिसकी ज्योति अनिर्वचनीय हो, जो सर्वव्यापक तथा निरतिशय आनन्द लक्षण वाला हो। इस प्रकार तत् तत् लक्ष्य दर्शन वाला होने से तद् तद् रूपानुसार ही उनके नाम हो जाते हैं। जो साधक नौ चक्रों को, छैः आधारों को, तीन लक्ष्यों को तथा व्योमपञ्चक को नहीं जानता वह नाम मात्र का ही योगी होता है।" इस प्रकार यहाँ मण्डल ब्राह्मण उपनिषद् का चतुर्थ ब्राह्मण समाप्त हुआ।

अब अन्तिम पञ्चम ब्राह्मण में ज्ञान योग का सार सिद्धान्त बताते हुए कहते हैं—"देखो, विषयासक्त मन बन्धन का कारण है, वही जब निर्विषय हो जाता है मुक्ति का कारण हो जाता है। इसलिये यह सम्पूर्ण जगत् चित्तगोचर है। वही चित्त निराश्रय तथा मन उन्मनी अवस्था परिपक्व हो जाय तो वही लय योग कहलाता है। वह लय परिपूर्ण जो मैं–अहम् हूँ उसमें अभ्यास करे। मनोलय का कारण 'अहम्' ही है। अनाहत जो शब्द है,

उस शब्द को ही ध्वनि कहते हैं। ध्वनि के अन्तर्गत ही ज्योति है, ज्योति के अन्तर्गत ही मन है। यह मन ही तीनों लोकों की सृष्टि, स्थिति तथा व्यसनों को करने वाला है। जब यह मन विलय को प्राप्त हो जाता है, वही विष्णु का परम पद कहलाता है। उस मन के लय हो जाने पर शुद्ध, अद्वैत सिद्धि हो जाती है, क्योंकि वहाँ भेद का अभाव हो जाता है।

उसी को परम तत्त्व भी कहते हैं। जो उस परम तत्त्व को जान जाता है वह लोक में बालकों की भाँति, उन्मत्त, पिशाच तथा जड़वत् आचरण करता है। इस प्रकार अमनस्क के अभ्यास से ही नित्यतृप्ति, मल-मूत्र का अल्प होना, भोजन का स्वल्प होना, अङ्गों का सुदृढ़ हो जाना तथा जड़ता, निद्रा और पलकों का गिरना-मुँदना इन सबका अभाव हो जाता है। ब्रह्म दर्शन से ज्ञात सुख स्वरूप सिद्धि होती है। इस प्रकार चिर समाधि जनित जो ब्रह्मामृत है उसके पान करने में जो योगी परायण है, वास्तव में वही संन्यासी है, वही परमहंस है और वही अवधूत है। उसके दर्शनमात्र से ही सम्पूर्ण संसार परम पावन बन जाता है। ऐसे परमहंस योगी संन्यासी की जो सेवा करता है, वह अज्ञ होने पर भी मुक्त हो जाता है। वह अपने इकहत्तर कुलों को तार देता है। उसके माता, पिता, पत्नी, पुत्रादि वर्ग सभी मुक्त हो जाते हैं। यही मण्डल ब्राह्मण उपनिषद् है, वह समाप्त हुई।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! यह उपनिषद् ज्ञानयोग के सम्बन्ध की है। इसमें अन्य योग की उपनिषदों से बहुत-सी बातें विलक्षण हैं। इसमें स्वानुभव की बहुत-सी प्रक्रियायें हैं। पाँच ब्राह्मण वाली यह उपनिषद् समाप्त हुई। अब आप दक्षिणामूर्ति के सार सिद्धान्त श्रवण करें।"

छप्पय

(१)

कही खेचरी लक्ष्य अन्त की अनहद ध्वनि पुनि।
षोडस पूजा ज्ञान बतायी पुनि समाधि मुनि!॥
पाँच अवस्था कहीं सबनि के फल बतलाये।
सुख जो तुरियातीत इन्द्र सुख तुच्छ बताये॥
पुनि अमनस्क लच्छण कहे, व्योम पञ्च व्याख्या रहीं।
षडाधार, नवचक्र अरु, लक्ष्य तीन ये सब कहीं॥

(२)

मन ही कारन बन्ध विषय तजि मुक्ति दिवावै।
शुद्ध ब्रह्म लवलीन विषय युत जगत बनावै॥
बिलय होइ मन विष्णु-परम पद ताहि बतावैं।
भेद भाव मिटि जाय शुद्ध अद्वैत कहावैं॥
परम तत्त्व में लीन मन, वही ब्रह्म विद सब उपरि।
उनकी जो सेवा करें, मुक्त होइँ कुल जाइँ तरि॥

इति मण्डल ब्राह्मण उपनिषद्-सार समाप्त।

(५१) दक्षिणामूर्ति तथा (५२) शरभ-उपनिषद्-सार

[३१६]

वीणां करैः पुस्तकमक्षमालाम्
विभ्राणमभ्राभगलं वराढ्यम् ।
फणीन्द्रकक्ष्यं मुनिभिः शुकाद्यैः
सेव्यं वटाधः कृतनीडमीडे ॥*
(द० मू० उ० १० मं०)

छप्पय

मुनि मृकण्डु-सुत निकट शौनकादिक ऋषि आये ।
चिरजीवी कस आयु ? दक्षिणामूर्ति बताये ॥
ज्ञान, देव, जप, मन्त्र, सु-निष्ठा, मुद्रा, साधन ।
परिकरि बलि इस्थान प्रश्न पूछे अति पावन ॥
का स्वरूप ? अरु उदय का ? कौन उपासक कहहु मुनि ।
उत्तर सबके मुनि दये, शौनकादि के प्रश्न सुनि ॥

---

* जिनके कर कमलों में वीणा, पुस्तक और रुद्राक्ष की माला है, जिनका गला नीला होने से जो नीलकंठ कहाते हैं, जो वरदान देने में अत्यन्त उदार-औघढदानी हैं । जिनकी कटि में सर्प लिपटे हुए हैं, शुक सनकादि ऋषियों द्वारा जो सेव्य हैं; जिन्होंने वट के नीचे अपना निवास बना रखा है, उन सदाशिव की हम स्तुति करते हैं ।

प्राचीन परिपाटी के अनुसार शिवजी के मन्दिरों का मुख दक्षिण की ओर होता था, अतः शिवजी का नाम दक्षिणामूर्ति भी है। दक्षिणामूर्ति उपनिषद् शैव उपनिषद् है, छोटी-सी बीस मन्त्रों वाली शिवतत्त्व को प्रकटित करने वाली यह परम महत्त्व की उपनिषद् है। 'सहनाववतु' इत्यादि इसका शान्ति पाठ है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! अब मैं दक्षिणामूर्ति उपनिषद् के अर्थ को कहता हूँ। एक बार ब्रह्मावर्त क्षेत्र में एक भाण्डीर नामक बडा भारी वट वृक्ष था। उसके नीचे शौनकादि अठासी सहस्र ऋषि महासत्र के लिये एकत्रित हुए। वहाँ समीप में ही महामुनि मार्कण्डेयजी भी तपस्या कर रहे थे। आप सब के सब महर्षिगण हाथों में समिधा लेकर चिरजीवी मार्कण्डेय मुनि के समीप मे गये। उनके समीप जाकर शिष्टाचार के अनन्तर आप सब की ओर से इन भगवान् शौनक ने पूछा—"भगवन्! आप किस कारण से चिरजीवी हो गये हैं? आप किसके द्वारा आनन्द का अनुभव कर रहे हैं?"

महर्षि मार्कण्डेयजी ने कहा—"महर्षियो! मैं परम रहस्यमय जो शिवतत्त्व है उसी के ज्ञान द्वारा आनन्द का अनुभव कर रहा हूँ।"

इस पर आप सब महर्षियो ने पूछा—"भगवन्! आप यह बताने की कृपा करें, कि वह परमरहस्य शिवतत्त्व ज्ञान क्या है? उसके देवता कौन हैं? उनके कौन-कौन से मन्त्र हैं? उसका जप क्या है? उसकी मुद्रा कौन सी है? उसकी निष्ठा क्या है? उसके ज्ञान साधन क्या हैं? उसका परिकर क्या है? उसकी बलि क्या है? उसका काल क्या है? उसका स्थान क्या है?"

ऋषियों के इतने प्रश्न सुनकर [illegible]

"तुम्हारा प्रथम प्रश्न शिवतत्त्व ज्ञान का है, उसका उत्तर है—जिसने दक्षिणाभिमुख श्री शिवजी को अपरोक्षीकृत किया है—उनका साक्षात्कार कर लिया है, वही परम रहस्य शिवतत्त्व वान है।"

दूसरा प्रश्न कौन देवता हैं ? सो जो सबके उपराम काल में अर्थात् प्रलय काल में—समस्त जगत् को अपने में समेट कर स्वात्मानन्द सुख में आनन्द करते हैं, मुदित होते हैं, प्रकाशित होते हैं, वे ही भगवान् सदा शिव इसके देवता हैं। अब तीसरा प्रश्न मंत्रों के सम्बंध में है, सो कहते हैं इसमें इतने मंत्र के रहस्य को प्रकट करने वाले श्लोक हैं। उनका भाव यह है—मेधा दक्षिणामूर्ति मन्त्र के ब्रह्मा तो ऋषि हैं, गायत्री इसकी छन्द है, दक्षिण की ओर जिनका मुख है ऐसे दक्षिणामूर्ति शिव ही इसके देवता हैं, मन्त्र के ऋषि, छन्द और देवता बताकर अब मन्त्र को बताते हैं—

आदि में ॐ लगावे, फिर नमः पद का उच्चारण करे। फिर भगवते इस पद को कहे। परिदक्षिणामूर्तये कहे। फिर अस्मत् शब्द के चतुर्थ्यन्त पद अस्मै को कहे। फिर मेधां प्रज्ञां इन पदों को बोले। फिर वायु बीज यं को कहे, फिर च्छं पद को कहे, फिर अग्नि जाया—स्वाहा को कहे। इस प्रकार यह चौबीस अक्षरों वाला मन्त्र बन जाता है। एक मन्त्र तो चौबीस अक्षरों का यह है।

इस मन्त्र का ध्यान इस प्रकार करे—स्फटिक तथा चाँदी के शुभ्र वर्ण वाले, जो मुक्ता की रुद्राक्ष की मालाओं को धारण किये हुए हैं, अमृत कलश विद्या वाले, कर के अग्र से ज्ञान मुद्रा में विराजमान हैं, जिनके कक्ष—काँख-में सर्प लिपटे हुए हैं, चन्द्रमा जिनके मस्तक पर सुशोभित हो रहा है, विविध वेशभूषा

को धारण करने वाले त्रिनेत्र भगवान् दक्षिणामूर्ति शिव की हम शरण में हैं।" यह तो पहिला मन्त्र और उसका ध्यान हुआ।

अब दूसरे मन्त्र से न्यास करे। वह मन्त्र क्या है? कहते हैं—आदि में तो ॐ को उच्चारण करे, फिर विसर्ग सहित आद्य स्वर को बोले। तब पश्चात् विसर्ग सहित उच्चारण करे। अन्त में तार-ओंकार को समुद्धरण करे। यह नौ अक्षरों वाला मन्त्र हुआ।

फिर इस प्रकार ध्यान करे—"जो कल्याणकारी-भद्रार्थ दात्री मुद्रा में आसीन हैं। परशु को हरण करने वाली बाहुओं में से एक बाहु को अपनी जङ्घा पर रखे हुए हैं। जो बिल के सदृश अपनी कक्ष में सर्प को रखे हुएहैं, जो वट वृक्ष के नीचे बैठे हैं, जो अपने मस्तक पर द्वितीया का अर्ध चन्द्र धारण किये हुए हैं, जिनकी जटायें फैली हुई हैं, जिन का दुग्ध के सदृश गौर वर्ण है, जिनके तीन नेत्र हैं, जो आद्य हैं, जिनके चारों ओर शुकादिक मुनिवृन्द बैठे हुए हैं, ऐसे जो भय-श्रोशकरजी हैं वे हमारी भाव शुद्धि को करें।

तीसरा मन्त्र बताते हैं, पहिले न्यास ब्रह्मर्षि न्यास करे। फिर तार ब्रुं नमः का उच्चारण करे, फिर माया वाग्भवम्, का उच्चारण करे। तत् पश्चात् दक्षिणामूर्ते ये पदों को बोले। फिर ज्ञान देहि कहकर वन्हि जाया स्वाहा-इसका न्यास करे। यह अठारह अक्षरों का मन्त्र है। सभी मन्त्रों द्वारा गोपित है।

फिर इस प्रकार ध्यान करे—जिनके श्री अंग में पाण्डु राङ्ग शुभ्र भस्म लगी हुई है, जो अपने मस्तक पर द्वितीया के चन्द्र का धारण किये हुए हैं। जो ज्ञान मुद्रा में विराजमान हैं, जो रुद्राक्ष की माला पहिनें हुए हैं, जिनके कर कमलों में व

पुस्तक तथा कमल विराजमान है। जो योग पट्ट से सुशोभित हैं। जो व्याख्यान की पीठ पर आसीन हैं। मुनिवृन्दों द्वारा जो सेव्यमान हैं अर्थात् सभी ऋषि मुनि जिनकी सेवा में तत्पर रहते हैं। जो सर्पों को कमर में लपेटे हुए हैं और जिन्होंने गजचर्म को धारण कर रखा है। ऐसे दक्षिणा मूर्ति श्री शिवजी हमारी निरन्तर रक्षा करें।

अब चौथा मन्त्र बताते हैं—पहिले न्यास करे। इस न्यास को ब्रह्मर्षि न्यास कहते हैं। पहिले तार ओंकार--को बोले, फिर रमाबीज को लगाकर साम्ब शिवाय इस पद को बोले, फिर तुभ्यं बोलकर अग्नि की पत्नी--स्वाहा--को बोले। यह बारह अक्षरों वाला मन्त्र है।

इसका ध्यान इस प्रकार करे—जिनके हाथों में वीणा सुशोभित है, दूसरे हाथ में पुस्तक तथा रुद्राक्ष की माला है। जो नील कण्ठ हैं, जो वर देने वालों में सर्वश्रेष्ठ हैं–औघड़दानी--हैं, जिनके कक्ष में- कटि प्रदेश में--सर्प लिपटे हुए हैं। शुक सनकादि मुनिवृन्दों द्वारा सेव्य हैं और जिन्होंने वट वृक्ष के नीचे अपना नीड--निवास स्थान बना रखा है, उनकी मैं स्तुति करता हूँ।

अब पाँचवाँ मन्त्र बताते हैं—इस मन्त्र के विष्णु तो ऋषि हैं, अनुष्टुप् छन्द है। दक्षिणामूर्ति शिव ही इसके देवता हैं। इस मन्त्र से न्यास करे—मन्त्र इस प्रकार है। पहिले तार ॐ को लगावे, फिर नमो भगवते तुभ्यं इन पदों को कहकर वटमूल निवासिने इन पदों को आगे जोड़े। फिर प्रज्ञा मेधादि कहकर दायिने मायिने शब्दों को उसके आगे लगावे। फिर नमः वागीशाय महाज्ञानाय लगाकर अंत में अग्नि की पत्नी स्वाहा को आगे लगावे यह बत्तीस अक्षरों वाला मंत्र है। यह मंत्रराज अनुष्टुप् छंदों वाला है। सभी मंत्रों से उत्तम से उत्तम मंत्र है। इसका ध्यान इस प्रकार

करे—जिनके करकमलों में मुद्रा,पुस्तक,वन्हि तथा नाग सुशोभित हैं, जिनका मुख प्रसन्नता से परिपूर्ण है। जो मुक्ता के हारों से विभूषित हैं। शशि की कला के कारण जिनका उज्ज्वल किरीट दमदम दमक रहा है। ऐसे अज्ञान के नाश करने वाले, वाणी के अर्थ स्वरूप आदि पुरुष, वट के नीचे निवास करने वाले, परम गुरु श्रीभवानीपति का अपने अभीष्ट की प्राप्ति के निमित्त हम ध्यान करते हैं।

अब तक पूछे हुए प्रश्नों में से १-परमहंस शिवतत्त्व ज्ञान, २-देवता और ३-मन्त्रों तथा ४-जप का वर्णन कर चुके, पाँचवाँ प्रश्न था मुद्रा क्या है ? तो बताते हैं, मौन ही उन दक्षिणामूर्ति भगवान् की मुद्रा है। अब छठा प्रश्न था उनकी निष्ठा क्या है ? सो बताते हैं—सोऽहं भाव में स्थिति होना ही निष्ठा है। अब सातवाँ प्रश्न था ज्ञान साधन क्या है ? इस पर बताते हैं अभेद भाव से मन्त्र का आम्रेडन-जप करना यही ज्ञान साधन है। आठवाँ प्रश्न था परिकर क्या है ? सो बताते हैं—चित्त की एकतानता ही परिकर है। नौवाँ प्रश्न था, बलि क्या ? इसका उत्तर देते हैं—आठों अंगों की चेष्टाओं को अर्पण कर देना ही बलि है। दशवाँ प्रश्न था, काल क्या है ? सो कहते हैं—तीन धाम-काल-ही काल है। ग्यारहवाँ प्रश्न था स्थान क्या है ? सो बताते हैं द्वादशान्त जो पद महादेव है वे ही स्थान हैं।

अपने सब प्रश्नों का मार्कण्डेय मुनि से उत्तर पाकर शौनकादि ऋषियों ने पुनः मार्कण्डेयजी से पूछा—"इन दक्षिणामूर्ति का उदय क्या है ? उनका स्वरूप क्या है ? इनके उपासक कौन हैं ?"

इस पर मार्कण्डेय ने कहा—"तुम्हारा पहिला प्रश्न उदय क्या है ? उसका उत्तर है, कि वैराग्य रूप तैल से परिपूर्ण

भक्ति रूपा बाती है और प्रबोध ही दीपक का पात्र है, ऐसे ज्ञान दीप से देखने पर मोह रूपी अन्धकार का हट जाना ही मानों स्वयं उदय होना है।

अब तुम्हारा दूसरा प्रश्न है, स्वरूप क्या है ? सो बताते हैं— वैराग्य को तो अग्नि मन्थन की पूर्व अरणि बनाओ। ज्ञान को उत्तरारणि बनाओ। प्रगाढ़ जो अन्धकार है, उसकी शान्ति के लिये गूढ़ जो अर्थ है उसे निवेदित करो। मोह रूपी यमराज—मृत्यु—से संक्रान्त और विवेक रूप जो मृकण्डुज है। तत्त्व विचार रूप पाश के द्वारा यह ज्ञान का साधक द्वैत के भय से आतुर अपने निजानन्द में उज्जीवित है। यही इसका स्वस्वरूप में स्थिति है।

अब तीसरा प्रश्न है उपासक कौन है ? सो बताते हैं—कि शेमुषी—अर्थात् बुद्धि को ही दक्षिणा कहते हैं, वह दक्षिणा ही जिसका मुख देखती है। अर्थात जिनका द्वार दक्षिण की ओर हो। उसी को दक्षिणाभिमुख कहते हैं। ब्रह्मवादीगण उन्हीं दक्षिणाभिमुख को शिव कहते हैं, भगवान् विरञ्चि—ब्रह्माजी—उन्हीं सदाशिव की उपासना करके सृष्टि करने की सामर्थ्य को प्राप्त करते हैं। जब उन सदाशिव की उपासना से उनमें सृष्टि करने की सामर्थ्य आ जाती है, तो उनके चित्त में बड़ा सन्तोष होता है, क्योंकि जो वे चाहते थे, उस अपने मनोवांछित अर्थ को पाकर वे धन्य-धन्य हो जाते हैं। वे ही ब्रह्माजी उन परम उपास्य सदाशिव के उपासक हैं। भाव यह है कि उपासक लोक पितामह धाता ब्रह्मा हैं। यही परम रहस्यमय दक्षिणामूर्ति उपनिषद् है। इस शिवतत्त्व विद्या वाली उपनिषद् का जो अध्ययन करते हैं, वे सर्वपापों से विमुक्त हो जाते हैं। जो इसे जानता है वह

कैवल्य पद का अनुभव करता है। यहाँ दक्षिणामूर्ति उपनिषद् समाप्त हुई। 'सहनाववतु' इसका शान्ति पाठ है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! यह मैंने दक्षिणामूर्ति का अर्थ कहा। अब आप शरभोपनिषद् को श्रवण करें। यह छोटी सी शैव उपनिषद् है, भद्र कर्णे इत्यादि इसका शान्ति पाठ है। जैसे भगवान् विष्णु के असख्य अवतार हैं, वैसे ही शिवजी के भी असख्य अवतार हैं। यह शरभावतार भगवान् रुद्र ने ही धारण किया था। शरभ एक आठ पैरों वाला जीव होता है, जो सिंह को भी मार देता है। हिरण्यकशिपु को मारने पर भी जब भगवान् नृसिंह का क्रोध समाप्त नहीं हुआ और उनके क्रोध से तीनों लोक त्रस्त होने लगे, तब भगवान् शकर ने शरभावतार लेकर नृसिंह भगवान् का वध किया। भगवान् भगवान् भी आपस में युद्ध करते हैं। उनकी माया है, लीला है, क्रीडा है, विनोद है, आमोद प्रमोद है, नाटक है। जैसे नाटक में सगे सम्बन्धी शत्रु मित्र का वेष बनाकर कपट युद्ध करते हैं, एक दूसरे का दिखावटी वध कर देते हैं, ऐसे ही भगवान् क्रीडा कर रहे हैं। हाँ तो अब शरभोपनिषद् की कथा सुनिये—

एक बार पैप्लाद मुनि भगवान् ब्रह्माजी के समीप गये और बोले—"भगवन्! मुझे यह बतावें, कि ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र इन तीन देवों में से कौन श्रेष्ठ हैं, किनका ध्यान करना चाहिये? इस बात को तत्त्व से मुझे बताइये।"

इस पर भगवान् ब्रह्मा ने कहा—"हे पैप्लाद! सबसे श्रेष्ठ तो भगवान् महेश्वर हैं। उनकी महिमा को सब कोई नहीं जान सकते। जिन्होंने पूर्व जन्मों में अत्यन्त ही तपस्या, दान यज्ञादि पुण्य कर्म किये होंगे, वे लोग ही उनकी महिमा जान सकते हैं। देखो, जिनसे विष्णु, मैं, इन्द्रादि देवता उत्पन्न हुए हैं, उन्हें औरों

की तो बात ही क्या इन्द्रादि देव भी नहीं जानते। वे प्रभु सबके शरण्य हैं, सबके पिता हैं, महेश्वर हैं। उन्होंने मुझे उत्पन्न किया, वेदों को, देवताओं को पैदा किया वे मेरे तथा विष्णु के भी पैदा करने वाले हैं और अन्तकाल में समस्त लोकों का संहार भी वे ही करते हैं। वे ही श्रेष्ठ वरिष्ठ घोर रूपधारी हैं। उन्होंने ही शरभ का रूप रखकर, लोक को भय पहुँचाने वाले नृसिंह भगवान् का वध किया था। नृसिंह के पीछे दौड़ने वाले शरभ भगवान् से देवताओं ने मना भी किया कि इन विष्णु का आप वध न करें, किन्तु ये माने नहीं, अपने तीक्ष्ण नखों से उनका पेट फाड़ ही तो दिया। उनका जो चर्म हुआ वही चर्म वीरभद्र हो गया। वे ही एक रुद्र ध्येय हैं, वे सभी के उपास्य और सर्वसिद्धियों को देने वाले हैं, जो अपने ललाट के विस्फुलिंग से सम्पूर्ण जगत का संहार करते हैं, जो सृष्टि, स्थिति प्रलय के स्वामी हैं, जिन्होंने वाम पैर से काल को मार दिया, जो हलाहल विष को पान कर गये, जिन्होंने अपना नेत्र चढ़ाने पर प्रसन्न होकर विष्णु को सुदर्शन चक्र दे दिया, जिन्होंने दक्ष के यज्ञ में सभी देवताओं को जीतकर विष्णु भगवान् को भी बाँध लिया, जिन्होंने लीला से ही असुरों के तीन पुरों को जला दिया, जो समस्त पशुओं—जीवों के पति होने से पशुपति कहलाते हैं, जिन्होंने विष्णु के मत्स्यादि अवतारों को भी पीड़ित किया है, इन्द्र को भी जिन्होंने भस्म बना दिया है उन भगवान् महेश्वर को बारम्बार प्रणाम है, भूयो भूयो नमस्कार है। इस प्रकार जो शिवजी की स्तुति करते हैं शिवजी उन्हें अभीष्ट फल देते हैं, वेदों में इन्हीं के लिये यतोवाचो निवर्तन्ते, अणोरणीयान महतो महीयान् कहा है। सब ऋषि मुनि देव इन्हीं सर्वसाक्षी नित्यानन्द महेश्वर की उपासना करते हैं। वेदों में अनेक रूपों से अनेक नामों

से यज्ञ रूप से इन्हीं शिवजी की स्तुति की गयी है। चतुर्भिश्च, ब्रह्मार्पण आदि मन्त्रों से इन शरभ रूपी शिव की ही महिमा गायी गयी है। उन भगवान् शिव के माहात्म्य को कौन कह सकता है, वे सदाशिव महेश्वर ही सर्वश्रेष्ठ देव हैं, उन्हीं का ध्यान करना चाहिये, उन्हीं की उपासना करनी चाहिये। वे ही ध्येय, गेय, उपासनीय हैं। एकमात्र शिव ही नित्य हैं, उनसे जो भी अतिरिक्त है, वह सब मृषा है, असत्य है, झूठा है। इसलिये समस्त देवों को छोड़कर एकमात्र शिवजी का ही ध्यान करना चाहिये।

यही शरभोपनिषद् पैप्पलाद शास्त्र है, इसे अपात्र को-सत्र किसी अहरे गहरे पचकल्यानी को नहीं देना चाहिये। इसे सुपात्र को, शिवभक्त को, कृतज्ञ को देना चाहिये।

जो इस शरभोपनिषद् को पढ़ता है, वह समस्त पातक महापातकों से छूटकर मुक्त हो जाता है, शिवजी का परम प्रिय हो जाता है, शिव सायुज्य को प्राप्त करता है, फिर उसका पुनर्जन्म नहीं होता, नहीं ही होता। यह बात भगवान् ब्रह्माजी ने कही है। इस प्रकार यह शरभोपनिषद् समाप्त हुई। अब स्कन्दोपनिषद्-सार सुनिये।"

छप्पय

शरभ उपनिषद् कही पैप्पलादहु मुनितैं अज।
शिव ही सब तैं श्रेष्ठ सबहिँ देवनि तजि तिनि भज॥
धारि शरभ जिनि रूप देव नरसिंह सँहारे।
त्रिपुरारी सुर पूज्य पान विष करि दुख टारे॥
शरभ रूप हर सदाशिव, तिनिकूँ जे नर ध्याइँगे।
सब पापनि तैं छूटिकैं, अन्त परम पद पाइँगे॥

इति शरभोपनिषद्-सार समाप्त

(५३) स्कन्द और (५४) त्रिपाद् विभूतिमहानारायणोपनिषद्-सार

[३१७]

जीवः शिव शिवोजीवः सजीवः केवलः शिवः ।
तुषेणबद्धो व्रीहिः स्यात् तुषाभावेन तण्डुलः ॥*
(स्क० उ० ६ मं०)

छप्पय

विष्णु रूप शिव एक भेद इनिमें कुछ नाहीं।
विष्णु हिये शिव रहैं सदाशिव उर हरि माहीं॥
देह शिवालय कह्यो जीव शिव तहँ विराजत्।
तजि देवै निरमाल्य भाव सोऽहं तें पूजति॥
ज्ञान अभेद हु भावना, ध्यान ह्यान मल त्याग है।
महामृत पीयो सतत, स्कन्द उपनिषत् सार है॥

एक ही देव हैं, उन्हें शिव कह लो, शक्ति कह लो, विष्णु, सूर्य तथा गणेश कुछ भी कहलो। सृष्टि द्वैत में, है, अद्वैत में

---

* जीव ही शिव है और शिव ही जीव है, वह जीव और कुछ नहीं केवल शिव ही है। अन्तर इतना ही है, भूसी से बंधा हुआ व्रीहि-धान कहलाता है, ऊपर की भूसी-तुषा-हट जाने पर उसी का नाम तण्डुल-अक्षत-चावल हो जाता है।

तो कुछ कहना ही नहीं बनता। कहना, सुनना, पढ़ना, लिखना, उपदेश आदेश, साधना-उपासना ये सब द्वैत में ही संभव हैं। द्वैत को सिद्ध करना नहीं होता, वह तो स्वतः सिद्ध है और जो अद्वैत को सिद्ध करना चाहते हैं, वे अज्ञ हैं। अरे भाई! जहाँ वाणी नहीं पहुँचती, जहाँ विषय नहीं, विषय की गन्ध नहीं, जहाँ वर्ण्य नहीं उसका तुम वर्णन करने चले हो, जो वाणी का विषय नहीं, उसको तुम वाणी द्वारा सिद्ध करने को उद्यत हुए हो। जब द्वैत में ही स्थिति है, तो सब जीव एक सी प्रकृति के कैसे हो जायँगे, एक सी उपासना सबकी कैसे होगी? एक से देव, एक से नाम रूप, एक से स्वभाव हो ही कैसे सकते हैं। भिन्नता में ही सृष्टि है। मुंडे मुंडेमतिर्भिन्नाः। जितने जीव उतने ही शिव। अतः द्वैत में ही अद्वैत के दर्शन करना इसी का नाम साधना है। तुम्हारे इष्ट, पंचमुख हैं तो हमारे इष्ट एक मुख हैं, तुम्हारे इष्ट दशभुज हैं, तो हमारे चतुर्भुज, तुम्हारे इष्ट बाघम्बर ओढ़ते हैं तो हमारे इष्ट पीताम्बर पहिनते हैं, तुम्हारे इष्ट त्रिशूल, धनुष, डमरू धारण करते हैं तो हमारे इष्ट शंख, चक्र, और पद्म लिये रहते हैं। इस प्रकार बाह्य चिन्ह पृथक् पृथक् होने पर भी दोनों के हृदय में अमृत धारा तो एक ही हिलोर ले रही है। तुम्हें अमृत बनना है या मर्त्य? मर्त्य बनना है तो बाहरी वेष भूषा के ऊपर झगड़ते हुए कटो मरो। अमृत बनना है, तो आँखों को मींजकर बाहर से दृष्टि हटाकर उस अजस्र, एक रस बहती हुई अमृत की धार में डुबकी लगाओ। तुम अमृत हो जाओगे क्योंकि तुम अमृत के पुत्र हो।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! एक बार शिवजी के पुत्र स्कन्द षडानन, देवसेनापति कार्तिकेयजी भगवान् शंकर के समीप गये। उन्होंने जाकर जो शिवजी से निवेदन किया वही

स्कन्दोपनिषत् है। बहुत छोटी १४, १५ मन्त्रों की यह हरिहर एकात्मभाव की महत्त्वपूर्ण उपनिषत् है। सहनाववतु इसका शांति पाठ है और भगवान् स्कन्द द्वारा कही हुई है।

स्कन्दजी ने शिवजी से कहा—"हे महादेव! आपकी करुणा के लेश के कारण मुझे इतना ज्ञान हो गया है, कि मैं अच्युत हूँ, विज्ञान घन हूँ, शिव हूँ। अन्तःकरण के जृम्भित होने से मुझे निजत्व निजवत् अनुभव नहीं होता। मेरे अन्तःकरण का नाश हो गया है। मुझे सर्वत्र एकमात्र हरि ही हरि दिखायी देते हैं। मैं संवित्मात्र हूँ, अज हूँ, मुझ चैतन्य से अतिरिक्त सब कुछ जड़ है। स्वप्न की भाँति मिथ्या है नाशवान् है। जो चिज्जड़ का द्रष्टा है, साक्षी है वही ज्ञान विग्रह अच्युत है। उसी को चाहे हर कहो अथवा हरि। वही परंज्योति, परमेश्वर तथा परमब्रह्म है और वह मैं ही हूँ। जीव और शिव एक ही हैं, उनमें भेद इतना ही है, जितना धान में और चावल में है। तुषासहित धान है, तुषा अलग कर दो तो वही चावल कहलाने लगता है। इसी प्रकार कर्मों से आबद्धजीव, जीव है। उसी के जब कर्म नाश हो जाते हैं, तो वही सदाशिव हो जाता है। भाव यह हुआ कि पाशबद्ध तो जीव है, पाश से विमुक्त सदाशिव है। शिव विष्णु स्वरूप हैं और विष्णु शिव स्वरूप हैं। शिव के हृदय में विष्णु और विष्णु के हृदय में शिव हैं, दोनों में तनिक भी भेद नहीं। यह देह देवालय है, इसमें जीव केवल शिव है। शिव के ऊपर चढ़ी निर्माल्य को हटा दो तो शिव के निर्वाण दर्शन होंगे, उनकी सोऽहं भाव से पूजा करनी चाहिये। अभेद दर्शन का नाम ज्ञान है, मन का निर्विषय होना ध्यान, मन का मेल त्याग स्नान और इन्द्रियनिग्रह शौच है। ब्रह्मामृत का तो पान करना चाहिये और देह रक्षा के लिये भिक्षान्न पर निर्वाह करना चाहिये।

एकान्त में वास करे, द्वैत वर्जित होना यही एकान्त है, जो बुद्धिमान इस प्रकार आचरण करता है वह मुक्ति को प्राप्त होता है। परमधाम में स्वस्ति हो, चिरायुष्य हो नमः इति।

विरञ्चि, नारायण और शकर इन तीनों देवों से युक्त हे देवेश! नृसिंह भगवन्! तुम्हारी कृपा से अचिन्त्य, अव्यक्त, अनन्त, अव्यय तथा वेदात्मक ब्रह्म अपने आप में ही जाने जाते हैं। यही विष्णु का परमपद है। सूरि लोग उस पद को सदा देखते हैं। विष्णु का जो परमपद है, उसका निर्वाण अनुशासन है, यही वेदानुशासन है। यहाँ आकर स्कन्द उपनिषत् समाप्त हुई।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! यह मैंने स्कन्द उपनिषत् का सार सुनाया, अब आप त्रिपाद् विभूति महानारायण उपनिषत् का सार श्रवण करें।"

यह उपनिषद् अथर्ववेदीय है। भद्रंकर्णेभिः इसका शांति पाठ है। यह बड़ी उपनिषत् है। इसमें आठ अध्याय हैं। पहिले अध्याय में पाद-चतुष्टय के स्वरूप का निर्णय किया गया है।

एक बार ब्रह्माजी को परमतत्त्व जानने की जिज्ञासा हुई। उन्होंने उसे जानने के निमित्त दिव्य सहस्रवर्ष पर्यन्त तप किया। उनके तप से तुष्ट होकर भगवान् महाविष्णु उनके सम्मुख प्रकट हुए। भगवान् के दर्शन से कृतार्थ हुए ब्रह्माजी ने उनसे कहा—भगवन्! परमतत्त्व क्या है, इसका रहस्य आप मुझे बतावें। क्योंकि आपके अतिरिक्त इस गूढ रहस्यमय प्रश्न का कोई अन्य उत्तर दे नहीं सकता। आप जगत् की सृष्टि, स्थिति तथा प्रलय के कर्ता हैं। आप ससार में सर्वश्रेष्ठ हैं। आप अमृतमय, सर्वस्वरूप मोक्षरूप, तथा मोक्षदाता हैं। आप ही वक्ता, पिता, गुरु, नियन्ता तथा ध्येय हैं।"

ब्रह्माजी के वचनों का भगवान् विष्णु ने 'साधु-साधु" कहकर अनुमोदन करते हुए कहा—ब्रह्माजी! एक अथर्ववेदीय महा-नारायणोपनिषत् है। उसमें गुरु शिष्य सम्वाद के रूप में महत्ज्ञान है। पहिले कल्पों में उसके द्वारा अनेकों महान् पुरुष ब्रह्मभाव को प्राप्त हो चुके हैं। उसके श्रवण मनन से समस्त सांसारिक बन्धन नष्ट हो जाते हैं। उसके स्वरूप को श्रवण कीजिये।

एक परम सुयोग सत्पात्र शिष्य ने सत्गुरु के चरणों में साष्टाङ्ग करके परमतत्त्व के रहस्य को खोलकर बताने की जिज्ञासा की। इस पर गुरुदेव भगवान् ने उसे परमतत्त्व रहस्यो-पनिषद् को बताया।

गुरुदेव बोले—ब्रह्म कालातीत, सततविद्यमान, सगुण तथा निर्गुण, आदि मध्य अन्त से रहित, मायातीत, गुणातीत, अज्ञेय, अखण्ड, परिपूर्ण, अद्वितीय, परमानन्द, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, सत्य-स्वरूप, सत्यरूप, सर्वव्यापक, भेद रहित, अपरिच्छिन्न, सच्चिदा-नन्द स्वरूप, स्वतःप्रकाश, इन्द्रियातीत, अप्रमेय और एकमात्र वही ज्ञेय है। वह तुरीय स्वरूप, अद्वैत, प्रणव स्वरूप, प्रणव प्रभृति समस्त मन्त्रों का स्वरूप भूत है। वह चतुष्पाद है।

ब्रह्म के वे चार पाद कौन-कौन हैं? इस पर बताते हैं—(१) अविद्यापाद, (२) सुविद्यापाद, (३) आनन्द पाद और चौथा (४) तुरीयपाद है। तुरीयपाद को ही तुरीयातीत कहा जाता है। अब इनकी व्याख्या सुनो। इन चार पादों में सबसे नीचे का जो पाद है, वही अविद्या मिश्रित है। ऊपर के तीनों पाद सर्वथा विशुद्ध हैं। वे ज्ञान, आनन्द और अमृत स्वरूप हैं। वे तीनों अलौकिक, परमानन्दरूप, अखण्ड, अमित, तेजोराशि हैं। वे तीनों अनिर्वचनीय, अनिर्देश्य, अखण्ड और आनन्द रसात्मक हैं। दूसरा आनन्द पाद है, तीसरा जो मध्यम है वही

वैकुण्ठधाम है। वह क्षीरसागर के मध्य में अमृत कलश के सदृश स्थित है, जैसे सूर्य मण्डल में सूर्य नारायण हैं, वैसे ही वे परमानन्द स्वरूप आदि नारायण हैं।

अविद्यापाद जो जगत् है, इनसे परे जो दो पाद हैं उनका वर्णन हो चुका। अब अन्तिम जो तुरीयपाद है वही ब्रह्म है। उन्हें ही भले ही तुरीयातीय विष्णु या ब्रह्म भी कह लो। वे परमज्योति, मायातीत, गुणातीत, कालातीत, कर्मातीत, उपाधि रहित, प्रणववाच्य, अन्तरहित, नित्य, परिपूर्ण, सत्यसंकल्प, आत्माराम, स्वयं ज्योति, स्वयंप्रकाश, अनुपम, अद्वितीय, कालातीत तथा काल के संवत्सरादि विभागों से रहित हैं। वे निजानन्दमय, अनन्त-अचिन्त्य, समस्त ऐश्वर्ययुक्त, अन्तरात्मा, परमात्मा, ज्ञानात्मा तथा तुरीयात्मा हैं। वे अद्वैत, विभु, नित्य, निष्कल्मष, निष्कलंक, निर्विकल्प, निरञ्जन, निरामय, नारायण हैं। जो उन्हें इस प्रकार जानता है, वह उनके सायुज्य को प्राप्त करता है। इस प्रकार त्रिपाद् विभूति महानारायणोपनिषद् का यह त्रिपाद् विभूति महिमायुक्त पाद-चतुष्टय स्वरूप का निर्णय करने वाला प्रथम अध्याय समाप्त हुआ।

अब द्वितीय अध्याय में साकार निराकार परब्रह्म के स्वरूप का निर्णय जानने के लिये शिष्य ने गुरुदेव से प्रश्न किया—"भगवन्! आपने त्रिपाद् विभूति में वैकुण्ठ और नारायण दोनों को नित्य कहा, फिर आपने कहा—तुरीय जो तत्त्व हैं वे वैकुण्ठस्थ नारायण ही हैं। आपने वैकुण्ठ और नारायण को साकार बताया, तुरीय तत्त्व को निराकार। साकार सावयव अनित्य होता है और निराकार निरवयव तथा नित्य होता है। संसार में सावयव समस्त पदार्थ अनित्य और निरवयव नित्य होते हैं। ये बातें प्रत्यक्ष तथा अनुमान प्रमाणों से स्वतः सिद्ध हैं।

आप वैकुण्ठ नारायण साकार है, तुरीयतत्त्व जो निराकार है दोनों को एक क्यों बताते हैं ? दोनों विरोधी एक ही में कैसे रह सकते हैं ?"

शिष्य की शंका को सुनकर गुरु ने कहा—"तुम्हारा कथन युक्ति संगत यथार्थ है। तथापि सभी साकार पदार्थ अनित्य नहीं होते। साकार दो प्रकार का होता है। एक उपाधि सहित, दूसरा उपाधि रहित। उपाधि युक्त साकार तो वह है जो अविद्या से उत्पन्न कार्यकारण हो। उपाधि युक्त साकार सावयव अनित्य ही है।

अब दूसरा जो उपाधिहीन साकार है, वह तीन प्रकार का है (१) ब्रह्मविद्या साकार, (२) आनन्द साकार और (३) उभयात्मक साकार। त्रिविध साकार नित्य तथा मुक्त दो प्रकार का है। अब इन तीनों की व्याख्या सुनो। विद्या की प्रधानता से ब्रह्मविद्या साकार और आनन्द की प्रधानता से उभयात्मक साकार कहलाता है। नित्यसाकार तो ज्ञानघन तथा देहमुक्त होता है, दूसरा मुक्त साकार ऐच्छिक है वे शरीर धारण करते हुए भी अनित्य न होकर शाश्वत ही होते हैं। अतः इनमें और तुरीय में कोई भेद नहीं।"

शिष्य ने कहा—"कुछ हो साकार निराकार, ये दोनों परस्पर में विरोधी धर्म हैं। एक ही ब्रह्म में दोनों विरोधी धर्म एक साथ कैसे रह सकते हैं ?"

इस पर गुरु ने कहा—"देखो, वायु निराकार साकार दोनों है। एक तो सर्वव्यापी निराकार वायु। दूसरे साकार वायु देवता। दोनों में अभेद सम्बन्ध है या नहीं ? एक सर्वव्यापक निराकार पृथ्वी, दूसरी मूर्तिमती पृथ्वी देवी दोनों एक ही हैं। जब देवताओं के भी साकार निराकार दोनों रूप एक ही हैं, एक में ही दोनों

रहते हैं, तब ब्रह्म मे साकार निराकार पन एक साथ क्यो नहीं रह सकते ? देखो राम कृष्णादि अवतार साकार होने पर परमानन्द स्वरूप, परब्रह्म परमतत्त्व परमैश्वर्य उनमें रहता ही है। उनका निराकारपना कहीं चला नहीं जाता और वे साकार निराकार दोनों ही रूपो मे नित्य ही हैं। तुम कहो कि भगवान् तो निराकार ही हैं, उनमें साकारपना हो ही नहीं सकता, तो फिर वे आकाश के सदृश जड ही हो जायँगे। क्योंकि तुमने उन्हें निराकारत्व के बन्धन में बाँधकर उनका सर्वसमर्थत्व, कर्तुं अकर्तुं अन्यथा कर्तुं सामर्थ्य नष्ट कर दिया है तो फिर वे जड के सदृश हो जायँगे। इसलिये परमार्थतः परब्रह्म साकार भी हैं और निराकार भी हैं।

अब सृष्टि कैसे हुई, इसे बताते हैं—उन आदि नारायण के निमेष, उन्मेष से मूल अविद्या की उत्पत्ति, स्थिति और लय ये तीनों कार्य होते रहते हैं। भगवत् इच्छा से कभी भगवान् के पलक खोलने पर परब्रह्म का जो अविद्या पाद है—सबसे निचला पाद है—उसमें मूल प्रकृति का अविर्भाव होता है। उसी से मूल अविद्या मिश्रित ब्रह्म—अर्थात् जीव—की अभिव्यक्ति होती है। फिर सृष्टि का क्रम चालू होता है, अव्यक्त प्रकृति से महत्तत्व, उससे अहङ्कार, अहङ्कार से तन्मात्रायें, उनसे पञ्च महाभूत, उन पञ्चभूतों से अविद्यात्मक एक अड उत्पन्न होता है। उस अड में भावोपाधि युक्त नारायण हो होते हैं। वे लीला के निमित्त, क्रीडा के निमित्त, अपने निरतिशय आनन्द के निमित्त इसकी रचना करते हैं। उन वैकुण्ठवासी नारायण और भावोपाधिक नारायण में तत्त्वतः कोई भेद नहीं। एक ही हैं। उन तुरीय तत्त्व नारायण से ही कोटि-कोटि ब्रह्माण्ड उत्पन्न होते हैं, स्थित होते हैं और उन्हीं में विलीन हो जाते हैं। उनसे ही अनन्त सिर, नेत्र, कर,

पद आदि अंग वाले विराट् भगवान् होते हैं, वे सर्वव्यापक सगुण निर्गुण रूप हैं,वे ब्रह्मांड में व्याप्त होकर विलास करते हैं। विराट् पुरुष से अनन्त ब्रह्माण्ड उत्पन्न होते हैं, सब ब्रह्माण्डों में नारायण के एक-एक अवतार होते हैं। उन नारायण से ही ब्रह्मा, रुद्र, समस्त लोक, इन्द्रादि समस्त देव, द्वादश आदित्य, अष्ट वसु तथा समस्त चराचर जीव उत्पन्न होते हैं उन्हीं में स्थित रहकर उन्हीं में विलीन हो जाते हैं, वे ही अनेक रूपों में विद्यमान हैं, सब उन्हीं के ही रूप हैं, मूर्त-अमूर्त, कारण-कार्य तथा इनसे विलक्षण भी हैं। वे नारायण ही परमज्योति, स्वयंप्रकाश, ब्रह्मानन्दमय, नित्य, निर्विकल्प, निरञ्जन, अवर्णनीय तथा परमशुद्ध देव हैं। उनके सदृश कोई है हो नहीं। जो इस तत्त्व को जान लेते हैं वे मुक्त हो जाते हैं। जो उन नारायण की उपासना करते हैं वे नारायण स्वरूप ही हो जाते हैं। इस प्रकार यहाँ द्वितीय अध्याय समाप्त होता है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! अब तीसरे अध्याय में मूलविद्या और प्रलय के सम्बन्ध में जिज्ञासा करते हुए शिष्य ने पूछा—"भगवन् ! मूल अविद्या से प्रपञ्च की उत्पत्ति कैसे हुई, उसका क्रम किस प्रकार है ?"

गुरुदेव ने कहा—"देखो, भैया ! प्रपंच दो प्रकार का होता है, एक अविद्या प्रपंच, दूसरा विद्या प्रपंच। जो विद्या प्रपंच है वह तो चैतन्य का विलास है अतः शुद्ध बुद्ध मुक्त है, वह तो सत्य तथा आनन्द स्वरूप स्वतः सिद्ध है। अब रहा अविद्या प्रपंच। विवाद इसी के सम्बन्ध में है। कोई तो इसे प्रवाह रूप से नित्य बताते हैं और किन्हीं-किन्हीं का कहना है, कि जब इसकी उत्पत्ति है, विनाश है तो यह अनित्य है।"

शिष्य ने पूछा—"आपका क्या मत है ?"

गुरुदेव ने कहा—"अरे, भैया ! नित्य अनित्य के चक्कर में ही न पड़ो। यह तो भगवती महामाया का विलास है। यह जो क्षण क्षण में तिरोहित होने वाला परिवर्तन शील अविद्या प्रपञ्च है, वास्तव में परमार्थतः देखा जाय, तो कुछ है ही नहीं। यह अनादि मूल-अविद्या का विलास है। इसकी परमार्थ सत्ता ही नहीं। सच्चिदानन्दघन परब्रह्म के अतिरिक्त किसी की सत्ता हो नहीं। जब जिसकी सत्ता नहीं उसके लिये सत्य है या असत्य ऐसा प्रश्न करना व्यर्थ ही है।"

शिष्य ने पूछा—"मूल अविद्या के उपसंहार का क्रम किस प्रकार है ? न सही इसकी अभिव्यक्ति तो होती ही है। उसे आप मूल विद्या का विलास कहते हैं। इस प्रपञ्च के प्रलय का क्रम बतावें।"

गुरुदेव ने कहा—"चारों युग बीतने पर एक चौकड़ी होती है। ऐसी सहस्र चौकड़ियाँ जब बीत जाती हैं तब ब्रह्माजी का एक दिन होता है। उतनी ही बड़ी रात्रि भी। रात्रि दिन मिलाकर हो एक दिन होता है। ब्रह्माजी के एक दिन में सत्यलोक तक के समस्त लोकों की उत्पत्ति, स्थिति और लय हो जाती है।

जैसे हम लोगों का १५ दिन का पक्ष, दो पक्ष का मास, दो मास की ऋतु,तीन ऋतु का अयन,दो अयनों का वर्ष होता है वैसे ही अपने दिन से ब्रह्माजी का भी ब्रह्म वर्ष होता है। अपने वर्षों से ब्रह्माजी की सौ वर्षों की पूर्ण आयु होती है। अपने सौ वर्ष पूरे करके ब्रह्माजी जिन हिरण्यगर्भ से उत्पन्न हुए थे उन्हीं में लीन हो जाते हैं, हिरण्यगर्भ के कारण ही वे हिरण्यगर्भ परमात्मा ब्रह्माण्ड परिपालक कहलाते हैं।

वे अंड परिपालक हिरण्यगर्भ महाविष्णु के अंश हैं। जितने समय में ब्रह्माजी की स्थिति रहती है जब वे अंडज परिपालक

नारायण में लीन होते हैं, उतना समय महाविष्णु का एक दिन-रात्रि होता है। अपने दिन के प्रमाण से ३६० दिन का उनका वर्ष होता है। अपने वर्षों के प्रमाण से उन महाविष्णु की सौ करोड़ (एक अरब) वर्षों तक की स्थिति होती है। स्थिति के अन्त में महाविष्णु विराट पुरुष में लीन होते हैं। तब आवरण सहित यह ब्रह्माण्ड नष्ट हो जाता है।

अंड परिपालक महाविष्णु जितने समय तक रहते हैं अर्थात् अपने वर्षों से दो अरब वर्षों तक उतना समय आदि विराट् पुरुष के दिन रात्रि कहे जाते हैं। अपने दिन से ३६० वर्ष का उनका अपना वर्ष होता है। अपने वर्षों से सौ करोड़ (एक अरब) वर्षों तक आदि विराट् पुरुष की स्थिति है। तब वे अपने अंशी मायोपाधिक नारायण में जाकर लीन हो जाते हैं। आदि विराट् पुरुष की स्थिति का जितना काल है उतना काल मायोपाधिक नारायण का एक दिन रात्रि है।

विराट् पुरुष की स्थिति एवं प्रलय का जो काल है वह मूल अविद्याण्ड-परिपालक आदि विष्णु के एक दिन के समान है। अपने मान से ३६० दिनों का उनका अपना वर्ष है। अपने वर्षों से सौ करोड़ वर्षों तक मूला अविद्यांड परिपालक आदि नारायण की स्थिति है, ये सब तो अविद्या पाद वाले नारायण के खेल हैं। मूलाअविद्याण्ड परिपालक आदि नारायण की स्थिति के अन्त में अब जो अविद्या पाद से ऊपर त्रिपाद् विभूति वाले नारायण हैं, उनका एक निमेष के सदृश समय है। उनके निमेष से मूल अविद्या का उसके आवरण सहित प्रलय हो जाता है। तब मूल अविद्या सम्पूर्ण कार्य रूप उपाधि के सहित अपने परम सूक्ष्म मूल कारण-अव्यक्त में प्रवेश कर जाती है। वह अव्यक्त ब्रह्म में प्रवेश कर जाता है। उस समय मायोपाधिक आदि

नारायण माया रूप उपाधि के नष्ट हो जाने पर अपने सत् स्वरूप में उसी प्रकार स्थित हो जाते हैं। जैसे ईंधन समाप्त हो जाने पर उस सब ईंधन को जलाकर अग्नि शान्त होकर अपने वास्तविक स्वरूप मे स्थित हो जाते हैं। उनके स्वरूप में स्थित हो जाने पर समस्त जीव अपने स्वरूप को प्राप्त हो जाते हैं।

देखो, ब्रह्म तो सर्वथा शुद्ध ही हैं। माया रूप उपाधि के कारण ही उनमें सगुणत्व और परिच्छिन्नत्व प्रतीत होते हैं, उपाधि नष्ट हो जाने पर निर्गुणत्व और निरवयवत्व आदि प्रतीत होने लगते हैं। इस बात को दृष्टांत के रूप में यों समझो। जैसे शुद्ध स्फटिक मणि है। वह स्वभावतः शुभ्र है, स्वच्छ है, लालिमा रहित है। जब उसके सम्मुख जपा, पुष्प गुड़हर का फूल—रख देते हैं, तब स्फटिकमणि लाल रंग की प्रतीत होती है। फूल को हटा लो तो उसकी ललाई नष्ट हो जाती है। स्फटिक में न तो पहिले ही ललायी थी न जपा पुष्प के हटाने से वह नष्ट ही हुई। उसमें पुष्प के सान्निध्य से भ्रमवश ललाई की प्रतीति होने लगी थी।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इस प्रकार मूल-अविद्या और प्रलय का वर्णन करके त्रिपाद्‌विभूति महानारायण उपनिषद् का तीसरा अध्याय समाप्त हुआ। अब चौथे अध्याय में शिष्य शंका करता है, कि ब्रह्म तो एक है, अखंड है, अद्वय है, निरवयव है। उसमें अविद्यापाद, सुविद्यापाद, आनन्दपाद और तुरीयपाद ये पाद् भेदादि कैसे सम्भव हो सकते हैं और यदि वे भेद हैं तो वे अद्वैत स्वरूप ही होंगे। यह कैसे ?"

गुरुदेव ने कहा—"देखो, भाई शब्दों का ही भेद है। ब्रह्म के अद्वैत होने में कोई सन्देह ही नहीं। इसी भाव को तो कहा ही गया है। एकमात्र ब्रह्म ही ब्रह्म तो है, ब्रह्म के अतिरिक्त तो कुछ

है ही नहीं। ये जो पाद भेद बताये हैं, वह तो ब्रह्म के स्वरूप का वर्णन किया गया है। देखो, ब्रह्म को चतुष्पाद बताया है। एक तो अविद्यापाद है, इसी में गड़बड़-सड़बड़ है। शेष जो त्रिपाद हैं, वे अमृत हैं, नित्य हैं। जो भी कुछ अन्धकार, तम है वह अविद्या पाद में ही है। त्रिपाद स्वरूप ब्रह्म तम से परे है। उस त्रिपाद् विभूति को जानने वाला संसार में मुक्त हो जाता है। मोक्ष प्राप्ति का इसके अतिरिक्त कोई अन्य पन्था है ही नहीं। सबके आधार अचिन्त्य रूप आदित्य वर्ण तम से ऊपर परम ज्योति प्रकाशित है। ऋत सत्य वही तम से परे सनातन विश्वरूप है। इस भाव वाली अन्य भी बहुत-सी श्रुतियाँ हैं। इन सब श्रुतियों में तम शब्द से अविद्या ही कही गयी है।

एक श्रुति है उसका भाव है—"इस ब्रह्म का समस्त विश्व भूत एक पाद में है। शेष तीन पाद अमृत स्वरूप हैं, नित्य हैं। अविद्यापाद में जगत है, शेष जो सुविद्या, आनन्द और तुरीय नाम के जो जगत् के बाहर तीन पाद हैं, वे तो नित्य हैं शाश्वत हैं। चौथा जो अविद्यापाद है, वह तो अविद्याश्रित है ही।"

शिष्य ने पूछा—"जो आत्माराम हैं, निराकार निरवयव हैं, उन आदिनारायण के नेत्रों का उन्मीलन-निमीलन-पलक खोलना मींचना कैसे संभव हो सकता है? उस ब्रह्म का उन्मेष निमेष का क्या स्वरूप है?"

गुरुदेव ने कहा—"देखो, बाह्यदृष्टि ही पलक का खोलना-उन्मेष-है और आन्तरिक दृष्टि ही पलकों का बन्द करना-निमेष है। भाव यह कि अन्तर्दृष्टि से अपने स्वरूप का चिंतन करना उन श्रीनारायण का निमेष है और बाह्यदृष्टि से चिन्तन करना ही उनका उन्मेष है। निमेष और उन्मेष का काल बराबर ही बराबर है। उन्मेष काल में अविद्या की स्थिति है और निमेष काल

में अविद्या का लय है। पलक खोलते ही अविद्यारूप जगत् हो जाता है, पलक बन्द करते ही अविद्या का लय हो जाता है। पुनः पलक खोलने पर अविद्या का उदय हो जाता है। तब कार्य-कारण रूप उपाधि भेद से जीव और ईश्वर का भेद भी दिखायी देने लगता है। कार्य रूप उपाधि से युक्त जीव और कारण रूप उपाधि से युक्त ईश्वर। ईश्वर की जो महामाया है उनके अधीन रहकर उन्हीं के सकल्पानुसार कार्य किया करती है। विविध अनन्त महामाया शक्तियों से सम्यक् प्रकार से सेवित अनन्त महामाया शक्तियों का स्थान, यह जो महाविष्णु की लीला शरीर रूपिणी महामाया शक्ति है वह ब्रह्मादिकों के लिये भी अगोचर है इस महामाया को वे ही पार कर जाते हैं, जो केवल विष्णु का ही भजन करते हैं। दूसरे इस महामाया को कभी भी पार नहीं कर सकते। विविध उपायों द्वारा भी अविद्या के जो कार्यरूप अन्तःकरण हैं उनका आश्रय लेकर वे अनन्त काल तक बार-बार जन्मते और मरते रहते हैं। अन्तःकरण में प्रतिबिम्बित ब्रह्मचैतन्य को ही जीव कहते हैं। अन्तःकरण उपाधिक ही समस्त जीव होते हैं। महाभूतों से उत्पन्न सूक्ष्म शरीर रूप उपाधि से जीव हैं ऐसा कोई कहते हैं। कुछ लोगों का मत है बुद्धि में प्रतिबिम्बित चैतन्य का ही नाम जीव है। भेद केवल उपाधि को ही लेकर है, अत्यन्त भेद नहीं है। सर्व परिपूर्ण नारायण तो अपनी इस इच्छा शक्ति को संग लेकर स्वेच्छा पूर्वक सदा क्रीड़ा किया करते हैं। इसी प्रकार ये समस्त जीव अज्ञान के वशीभूत होकर इन संसारी शब्द, रूप रसादि तुच्छ विषयों में सुख की प्राप्ति की इच्छा से संसार चक्र में दौड़ते रहते हैं। वास्तव में इन असार विषयों में सुख नहीं है। किन्तु इस प्रकार अनादि परम्परा से विपरीत भ्रम होने के कारण ही जीव

संसार चक्र में घूम रहे हैं। यह परम्परा कब से चली है, इसे कोई नहीं बता सकता। यह परम्परा अनादि है।

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! यहाँ आकर त्रिपाद विभूति उपनिषद् का चौथा अध्याय समाप्त हो गया। इसके दो काण्ड हैं, पूर्व काण्ड और उत्तर काण्ड। पूर्व काण्ड के चार अध्यायों का सार तो मैंने बताया। अब उत्तर काण्ड के शेष चार अध्यायों का सार आगे बताऊँगा।"

छप्पय

(१)

परमतत्त्व जिज्ञासु ब्रह्म तप दिव्य बरस शत।
करिकें प्रकट परेश–कहो प्रभु! तत्त्व परम हित॥
नारायन ने कह्यो–शिष्य गुरु संवादहु युत।
कहूँ त्रिपाद विभूति देहु अज! अब तुम इत चित॥
कही त्रिपाद विभूति प्रभु, महानरायन उपनिषद।
कहे आठ अध्याय सब, चतुष्पाद प्रभु के विषद॥

(२)

चतुष्पाद जो ब्रह्म प्रथम अध्याय बतायो।
निराकार–साकार द्वितिय में रूप जतायो॥
मूल अविद्या–प्रलय निरूपन तृतिय माहिं पुनि।
मायातीत अखण्ड तत्त्व–पर परमानँद मुनि!
ताकूँ कह्यो चतुर्थ में, पूर्वकाण्ड पूरन भयो।
उत्तर में संसार तें, तरन हेतु साधन कह्यो॥

—:—